गवाद

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती


2343



त्यागवाद

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

भूमिका

डॉ० कर्णसिंह

पूर्व केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री



अनीता आर्ष प्रकाशन, पानीपत

प्रकाशक :
आदित्य प्रकाश आर्य
अध्यक्ष
अनीता आर्ष प्रकाशन,
हलवाई हट्टा, पानीपत

प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय
सुभाषपार्क एक्सटेंशन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

दो शब्द

भारत की सवसे वड़ी विशेषता का परिचय देना हो तो उसे अध्यात्म और धर्म का देश कहा जा सकता है। आज के इस विज्ञान के युग में जहाँ एक ओर लोग चाँद पर पहुँच रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर उसी विज्ञान ने हमें घातक अणुवम भी दिये हैं जो न केवल विश्व के वल्कि समस्त ब्रह्माण्ड के विनाश का साधन वन सकते हैं। ऐसी स्थिति में भारत की संस्कृति, उसका धर्म और अध्यात्म ही जीवन का सन्देश दे सकता है। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने स्वरचित 'त्यागवाद' के माध्यम से वेदोपनिषद् में निहित मूल आध्यात्मिक सन्देश को विद्वानों और जिज्ञासुओं के लिए सुलभ कर दिया है। इसके लिए मैं स्वामी जी को धन्यवाद और वधाई देता हूँ।

—(डाक्टर) कर्णसिंह
पूर्व केन्द्रीय शिक्षामन्त्री

आमुख

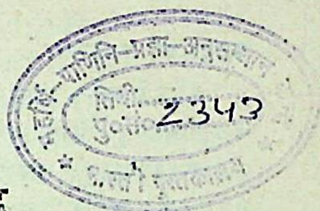
मानव जीवन का अन्तिम ध्येय ऐहिक जीवन की सुख-सुविधाओं के जनक उपकरणों की उपलब्धि एवं उनका समुचित उपयोग करते हुए मोक्ष-लाभ करना है। द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधा के जनक हैं, किन्तु अपने स्वरूप में वे क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं। एक आत्मतत्त्व ही अविनाशी है। इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् मनुष्य देह और उसकी वासनाओं में सदा के लिए लिप्त न होकर जन्म-जन्मान्तर के रूप में आवर्त्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान मनुष्य को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करता है। यही अध्यात्म है।

वैदिक धर्म शरीर और आत्मा के अन्तर को स्पष्ट कर आत्मा को मुख्य और शरीर को गौण बताता है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि मनुष्य का शरीर उस पिंजरे के समान है जिसमें जीवात्मा के रूप में एक तोता बैठा है तो संसार को देखने का उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। आज का मनुष्य आत्मा की चिन्ता न करके पिंजरे को सजाने में लगा हुआ है। उसमें रहनेवाले तोते की वह परवाह नहीं करता। पिंजरे को सजाना कोई बुरी बात नहीं परन्तु उसमें बन्द तोता यदि अधमरा है तो पिंजरे की सुन्दरता किस काम की ? संसार को सुन्दर बनाओ पर मानवता को खोकर नहीं। शरीर को सुख दो, पर आत्मा की हत्या करके नहीं।

जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक जीवन के मूलतत्त्व हैं—ईश्वर की सत्ता और उसकी व्यापकता में विश्वास, संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान, त्यागपूर्वक भोग, निष्काम कर्म तथा आत्मा के प्रतिकूल कार्य न करना। इन्हीं पाँच बिन्दुओं पर इस पुस्तक में विचार किया गया है।

श्री आदित्यप्रकाश आर्य ने अपनी सुपुत्री की स्मृति में स्थापित, अनीता प्रकाशन से इसे प्रकाशित किया है। एतदर्थ उन्हें धन्यवाद व आशीर्वाद।

डी० १४/१६ माडल टाउन, दिल्ली —विद्यानन्द सरस्वती



त्यागवाद

सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। जगत् के मूल उपादान जड़तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत होकर व्यवस्थित जगत् की रचना नहीं कर सकते। लोक-लोकान्तरों की रचना में जो अद्भुत कौशल दीख पड़ता है वह किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, चेतनतत्त्व—किसी पूर्ण पुरुष की प्रेरणा की अपेक्षा रखता है। अनादि काल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य आज तक स्वयं अपने शरीर की रचना को भी पूरी तरह नहीं समझ पाया। आज का भौतिक विज्ञान, आयुर्विज्ञान तथा जन्तु-विज्ञान इतना अधिक उन्नत हो जाने पर भी शरीर-रचना के पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं कर सकता। जिस माता के गर्भ में नौ मास तक उसका निर्माण होता रहता है वह भी इस विषय में कुछ नहीं जानती। शरीर की भाँति ही एक-एक फूल-पत्ती में— यहाँ तक कि एक-एक परमाणु की संरचना में भी हमें विचित्र रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध लेखक फ़्लिण्ट ने लिखा है—"यदि यह माना जाये कि प्रकृति के परमाणुओं ने स्वयमेव मिलकर इस विचित्र सृष्टि की रचना कर ली तो यह भी मानना होगा कि शैक्सपीयर के नाटकों की रचना अंगरेजी भाषा की वर्णमाला के अक्षरों ने उछल-उछल कर स्वयं कर डाली। इस नाम से प्रसिद्ध किसी नाटककार—चेतन प्राणी —का इसमें कोई हाथ नहीं।"[१]

---

१. It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a Supreme mind, this wonderful universe, than that the letters of the English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest assistance from the human mind known by that famous name.

घटना का प्रयोजन

सृष्टि में प्रत्येक वस्तु और घटना का कोई प्रयोजन है। सूर्य समुद्र से जल खींचता है, किन्तु उसके क्षारीय अंश को वहीं छोड़ देता और केवल शुद्ध जल को ग्रहण करता है। आकाश से जल न बरसे तो धरती पर प्राणी न रह सकें। सूर्य के द्वारा जल खिचते-खिचते समुद्र ही न सूख जाये और इधर धरती जल में न डूब जाये, इसलिए संसार के काम आने के वाद वही जल नदी-नालों के रूप में बहकर फिर समुद्र में जा पड़ता है।

प्राणी ऑक्सीजन से जीता है और वृक्ष कार्बन से। वृक्षों द्वारा प्रदत्त आक्सीजन से प्राणी जीते रहते हैं और प्राणियों द्वारा उत्पन्न कार्बन को वृक्ष ग्रहण करते रहते हैं। इस प्रकार 'देहि मे ददामि ते' के अनुसार प्राणी तथा वनस्पति दोनों का जीवन बना रहता है। वर्षा से वनस्पति-जगत् को जीवन मिलता है तो वृक्षादि स्वयं वर्षा होने में सहायक होते हैं। पृथिवी पर बड़े परिमाण में उत्पन्न घास-पात एक ओर शाकाहारी प्राणियों का पेट भरता है तो दूसरी ओर औषधरूप में परिणत होकर रोगनिवारण में काम आता है।

शरीर के एक-एक अंग की रचना ही नहीं, उनका प्रयोजन भी चमत्कार पूर्ण है। एक हृदय ही को लें। यह अकेला शरीर से अशुद्ध रक्त को लेता (हृ), शुद्ध करने के लिए फेफड़ों को देता (द)और उनसे शुद्ध रक्त लेकर शरीर में गति करने के लिए भेजता (य) है।

प्रयोजन का तात्पर्य है—अर्थ, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ किसी अर्थ—उपयोग के लिए बना है। नेत्रों का अर्थ है—देखना। यदि वाह्य जगत् में दृश्य पदार्थ न होते तो आँखों का होना व्यर्थ था। इसी प्रकार यदि बाहर शब्द-स्पर्श-रस-गन्ध न होते तो इनकी ग्राहक इन्द्रियों श्रोत्र, त्वचा, रसना और घ्राण का होना व्यर्थ था। इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रियार्थ का होना निष्फल था। इस व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि यह सृष्टि स्वतः उद्भूत न होकर किसी चेतन सत्ता द्वारा व्यवस्थापूर्वक रचित है।

सृष्टि का संचालन—किन्हीं नियमों के आधार पर हो रहा है। नियमबद्धता ही प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों और नियमबद्धता से अनुशासित विश्व परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है।

यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उसकी संगति को प्रकट करने के लिए नियम खोजने पड़ते हैं। इन नियमों की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य की सारी बुद्धि इसी काम में लगी है।

नियम क्या हैं ?—ज्ञात तथ्यों का साधारणीकरण। जो नियय आज सत्य हैं, वे कल भी सत्य थे और परसों भी—जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सत्य रहेंगे। यदि ऐसा न हो—इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा करना व्यर्थ हो जाये और समस्त वैज्ञानिक प्रगति ठप्प हो जाये। किसी सर्वोच्च चेतना और मस्तिष्क के बिना नियमों पर आधारित व्यवस्था नहीं बन सकती। विश्व के चमत्कारों ने निष्पक्ष ज्योतिर्विदों को किसी ऐसी अज्ञात, और कदाचित् अज्ञेय, शक्ति पर विश्वास करने को विवश कर दिया है जो विश्व की विशालता और नियोजन के लिए ज़िम्मेदार है। सृष्टि का संचालन कर रहे असंख्य नियमों में से ज्यों ही हमें किसी नियम का पता चलता है त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है—'मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है।' परमात्मा की सत्ता से शून्य विश्व के ढाँचे में व्यवस्था की कल्पना करना ऐसा विरोधाभास है जिसका कोई अर्थ नहीं बनता। व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा बगीचे की शोभा और सौन्दर्य को सराहना, परन्तु माली के अस्तित्व को स्वीकार न करना।

सृष्टि में असंख्य ग्रह-उपग्रह हैं जो अपनी-अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं, परन्तु करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी एक-दूसरे के मार्ग में आकर नहीं टकराये। सब नियत गति से अपने-अपने रास्ते चले जा रहे हैं। यही कारण है कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सदियों पहले की जा सकती है। ज्वारभाटे के निश्चित समय की जानकारी पहले से होने के कारण ही जहाज़ चलाये जा सकते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम में कभी एक पल भी इधर-उधर नहीं हो पाता। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओं का चक्र घूमता रहता है। पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पहले फल आ जाये और फिर फूल खिले। गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज

से गेंदा ही पैदा होता है। इस प्रकार की क्रमवद्धता और कार्यकारण-श्रृंखला का वना रहना प्रभुसत्ता-सम्पन्न विश्वात्मा के विना सम्भव नहीं।

जहाँ स्वत्व होता है वहाँ कोई न कोई उसका स्वामी अवश्य होता है। छोटे से छोटे पदार्थ से लेकर बड़े से बड़े पदार्थ में यह नियम पाया जाता है। तव इस विराट् सृष्टि का स्वामी भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। प्रकृति जड़ होने से स्वामित्व की योग्यता नहीं रखती। जीव अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति एवं परिच्छिन्न होने से कोटानुकोट भूमण्डलों का स्वामी होने में असमर्थ है। परमात्मा के लिए 'पति' और उसके पर्याय शब्दों का प्रयोग वेद, उपनिषद् आदि में अनेकत्र पाये जाने से[1] वही इसका एकमात्र स्वामी स्वतः सिद्ध है।

वस्तुकृत, देशकृत तथा कालकृत तीन परिच्छेद कहलाते हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के स्वरूप में न होना 'वस्तुकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पहले थी, अव नहीं है अथवा आगे नहीं रहेगी—यह 'कालकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पूर्व में है, पश्चिम में नहीं—यह 'देशकृत' परिच्छेद है। सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण हैं। ये तीनों उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रतिनिधि हैं। जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं, सभी वस्तुकृत, देशकृत और कालकृत परिच्छेदवाले हैं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण सभी पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का गुण पाया जाता है। संसार में जो भी वस्तु है उसका विपर्यय अर्थात् उल्टा अवश्य होता है, अतः यदि परिच्छेदोंवाले पदार्थ हैं तो परिच्छेदों से रहित भी कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है तो कोई सत्ता ऐसी भी होनी चाहिये जो त्रिगुणातीत होने से इन अवस्थाओं से परे हो। वही ईश्वर है।

छोटी वस्तु वड़ी के सहारे रहती है। सहस्रों मनुष्य एक जलयान का

---

१. भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। यजुः० १३।४
यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिः। ऋग्० १।१०१।५
स सर्वेषां भूतानामधिपतिः। बृहदारण्यक० २।२।१५
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। यजुः० २३।३

आश्रय ले यात्रा करते हैं। मनुष्य छोटे हैं, जलयान बड़ा है। इसलिए वे जलयान का सहारा लेते हैं। जलयान अपने से बड़े समुद्र के सहारे और समुद्र पृथिवी के सहारे रहता है। आश्रय-आश्रयी भाव का यह क्रम जहाँ समाप्त होता है, वह सबसे बड़ा होने से (बृहत्त्वात् ब्रह्म) ब्रह्म है।

संसार में प्रत्येक पदार्थ किसी से छोटा और किसी से बड़ा होता है। अणु परिमाण से मध्यम परिमाण बड़ा है और मध्यम परिमाण से महत् परिमाण बड़ा है। इस प्रकार पृथिव्यादि तत्त्वों के समुच्चय से बने ब्रह्माण्ड से और अल्पज्ञ एवं परिच्छिन्न जीव से भी बड़ा कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। प्राकृत पदार्थ तो सभी सीमावाले हैं। इसलिए जो विद्युत् आदि के समान प्राकृत नहीं और निराकार होने से जिसकी कोई सीमा नहीं, वही शक्ति सबसे महान् है—वही ब्रह्म है।

अनन्त के बिना सान्त की सिद्धि नहीं हो सकती। अमरीका के विख्यात मनीषी तथा साहित्यकार इमर्सन ने जिज्ञासा के रूप में प्रकारान्तर से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा—"हम जानते हैं कि मानव-जीवन अत्यन्त तुच्छ है, परन्तु, हमें इस तुच्छता का ज्ञान कैसे हुआ?"[१] इमर्सन के इस कथन की समीक्षा करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक डॉक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है—"वस्तुतः इन शब्दों में इमर्सन डिकार्टे (Descarte) के इस कथन की व्याख्या कर रहा प्रतीत होता है कि "यदि हमारे मन में अनन्त का विचार न बैठा होता तो हमें कभी भी सान्त की अनुभूति न होती।"[२]

प्रत्येक पदार्थ अपने से महान् सजातीय की ओर खिचा जा रहा है। जैसे—नदियाँ समुद्र की ओर खिची चली जा रही हैं। समुद्र का जल अपने से बड़े अन्तरिक्षस्थ समुद्र की ओर खिचता रहता है। फिर, यह जीवात्मा किसकी ओर खिच रहा है? जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं के आकर्षण के

---

१. We grant that human life is mean, but how did we find that it is mean.

२. Emerson is here paraphrasing Descarte's statement that we could not be conscious of finiteness, if we did not have the idea of infinity all the time within us.

हेतु अन्यान्य प्राकृतिक वस्तुएँ हैं उसी प्रकार जीवात्मा के आकर्षण का केन्द्र भी अपने से बड़ा सजातीय होना चाहिये। सच्चित्-स्वरूप जीवात्मा से वड़ी ऐसी शक्ति सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही है।

वर्तमान युग में विश्व के सबसे महान् खगोलशास्त्री सर आर्थर एडिंगटन का कथन है—"जब मनुष्य के मन से ध्वनि निकलती है, तो वह किसे पुकार रहा होता है? निश्चय ही, यह उस आत्मा को सम्बोधित होती है जिसमें सत्य का निवास है और जिसके सहारे मनुष्य की आत्मा का पूर्ण विकास सम्भव है।"[१]

रूस के महान् लेखक डोस्टोविस्की (Dostoevsky) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Brothers Karamozov में एक स्थान पर लिखा है—

"परमात्मा का होना इतना आश्चर्यजनक नहीं जितना उसकी आवश्यकता का विचार मनुष्य जैसे दुष्ट और क्रूर प्रकृति के प्राणी के मस्तिष्क में आना।"[२]

मनुष्य के मन में ईश्वर के प्रति आस्था कितनी गहरी रही है, इसपर विचार करते हुए विश्व के प्रसिद्ध विचारक, सन्त तथा लेखक टाल्सटाय ने कहा है—"मनुष्य कभी ईश्वर के विना नहीं रह सका। यदि तुम एक ईश्वर को हटा दोगे तो वह उसके स्थान पर दूसरा बना लेगा।"[३]

नैमित्तिक ज्ञान के विना मनुष्य का काम नहीं चल सकता यह अनेकशः सिद्ध है। गुरु-परम्परा को यदि हम पीछे की ओर ले जायें तो उसमें

---

१. When from the human heart, the cry goes up, what is it all about? It is about a spirit in which truth has its shrine with potentialities of self-fulfilment in its responses to beauty and right.

२. What would be marvellous is not that God should really exist, but that such an idea—the idea of the necessity of God—could enter the head of such a savage, vicious beast as man.

३. Never has man lived without God. If you remove one, he will create another.

अनवस्था-दोष आता है। इसका पर्यवसान सृष्टि के आदि में पहुँचकर ब्रह्म में होता है जिससे पहले और कोई न था। वही कालानवच्छिन्न ब्रह्म मनुष्य के नैमित्तिक ज्ञान का आदि स्रोत है।[1] सूर्य के समान समस्त अर्थों के प्रकाशक तथा लौकिक-अलौकिक ज्ञान के उपबृंहक वेदों का प्रादुर्भाव सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा होना सम्भव नहीं। किसी विशेषज्ञ आचार्य के द्वारा जब किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है तो रचना के यथासम्भव सर्वांगपूर्ण होने पर भी रचयिता का ज्ञान उसकी अपेक्षा अधिक ही रहता है। तब यह ऋग्वेदादि शास्त्र जिनका ऋषियों ने व्याख्यान रूप से अनेक शाखाओं में विस्तार किया और आज भी कर रहे हैं, जिनमें जड़-जगत् तथा प्राणि-जगत् एवं मानव-समाज के वर्णाश्रम-धर्म आदि का विस्तार से वर्णन है, और जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त समस्त तत्त्वज्ञान की खान हैं—पुरुष के श्वासोच्छ्वास के समान अनायास उस महान् सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ,[2] यह नितान्त सत्य है।

जो ईश्वरीय ज्ञान शब्द अर्थात् सिद्धान्त रूप में वेद है वह प्रयोगात्मक स्थिति में जगत् है। वेदों में सृष्टि-विषयक जो संकेत मिलते हैं, सृष्टि-क्रम के साथ उनका सन्तुलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न शास्त्र में ऐसा कोई वर्णन है जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो और न सृष्टि में कोई ऐसी बात दीखती है जो शास्त्र के विपरीत हो। शास्त्र से सृष्टि-रचना का बोध होता है और सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है। पद (नाम) वेदों में हैं, पदार्थ (रूप) जगत् में। इस प्रकार विश्व की उभय-विध नामरूपात्मक रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है।

कर्मफल अवश्यम्भावी है, किन्तु जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् जान नहीं सकता और अल्पशक्ति होने से वह उन साधनों को जुटा नहीं सकता जो

---

१. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।—यो० द० समाधिपाद २६

२. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः।

—बृहद्० २।४।१०

फलोपभोग की अवस्था के लिए अपेक्षित हैं। कोई भी मनुष्य अपराध करके स्वयं वन्दीगृह में नहीं जाता किन्तु राज्य-व्यवस्था से पकड़ा जाकर ही यथोचित दण्ड पाता है, अतः कर्मफल की यथोचित व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। किस कर्म का फल कब, कहाँ, किस रूप में, किन साधनों के द्वारा, किन परिस्थितियों में भोगा जा सकता है—इस स्थिति को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जान सकता है। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-११) में उसे कर्माध्यक्ष के नाम से पुकारा गया है।

अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मफल तथा आशय (अनादि काल से संचित कर्मों का भण्डार)—इन सबके सम्बन्ध से सर्वथा अछूते चेतन आत्मतत्त्व विशेष का नाम ईश्वर है।[1] पुरुष पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए होता है। जैसा चेतन तत्त्व जीवात्मा है वैसा ही परमात्मा है। उनके चेतन स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न परिमाण है और अधर्म, मिथ्याज्ञान, प्रमाद, राग, द्वेष आदि से अभिभूत हो जाता है। इसके विपरीत परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परममहत्परिमाण, सत्यसंकल्पादि है तथा अधर्म आदि से कभी अभिभूत नहीं होता। इस प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी क्लेश आदि जीवात्मधर्मों से सदा अलिप्त रहने के कारण उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। कठोपनिषद् में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि जैसे सूर्य सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होनेवाले बाह्य दोषों से प्रभावित—दूषित नहीं होता, वैसे ही एक परब्रह्म सब भूतों में व्याप्त होता हुआ लोकदुःख से दुःखी नहीं होता।[2] स्पष्ट है, जीवात्मा भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए शुभाशुभ कर्म करता और उनके फलों को भोगता हुआ संसार में लिप्त रहता है जबकि परमात्मा भोगों से अलिप्त रहकर सबकी व्यवस्था करता है।

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।—यो० द० १।२४

२. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ —कठ० ५।११

जगत्—मन्त्र में जगती शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है। शतपथब्राह्मण में अनेक जगतों की समष्टि को जगती कहा है।[1] इन जगतों की संख्या जानना सम्भव नहीं। एक सौरलोक एक जगत् है और जगती में अनन्त सौरलोक हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु—ये तीनों त्रिलोकी कहाते हैं। इन तीनों में सारे जगत् स्थित हैं। आकाश में रात को टिमटिमाते तारे दीखते हैं। ब्रह्माण्ड में इन तारों की संख्या इतनी है जितनी समुद्र-तट पर बिखरे रेत के कणों की। इनमें से एक-एक तारा पृथिवी के परिमाण से दस लाख गुणा बड़ा है और प्रत्येक तारा अपने निकटतम तारे से कम-से-कम दस लाख मील की दूरी पर भ्रमण कर रहा है। एक ऐसा नेबुला है जिसका प्रकाश पृथिवी तक पहुँचने में एक अरब वर्ष लग जाते हैं। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि प्रकाश की गति एक सैकण्ड में एक लाख छयासी हज़ार मील है। अन्तरिक्ष में हुई एक दुर्घटना का पता अगस्त १९६१ में चला था। वैज्ञानिकों के अनुसार यह दुर्घटना लगभग ८० करोड़ वर्ष पहले हुई थी। जगत् की यह विशालता उस प्रभु की महिमा का व्याख्यान कर रही है।

जगत्, सृष्टि, संसार, प्रपंच आदि पर्यायवाची शब्द हैं। 'गच्छतीति जगत्'—जगत् का अर्थ गति-विधान है। ज=जायते, ग=गच्छति और त्=स्थीयते—इस प्रकार जगत् शब्द उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों का वाचक है। जगत् में ऐसी कोई वस्तु दिखाई नहीं देगी जिसमें गति न हो। छोटी से छोटी वस्तु—परमाणु को देखें तो उसके भीतर भी गति या क्रिया हो रही दिखाई देगी। उस परमाणु के अन्दर एक केन्द्र है जिसके चारों ओर असंख्य विद्युत् कण (Electrons) उसी प्रकार चक्कर काटते दिखाई देंगे जिस प्रकार अनेक ग्रह-उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते रहते हैं। इस प्रकार सृष्टि का एक-एक कण सूर्यमण्डल का संक्षिप्त रूप है। तो क्या वह कण जिसके भीतर इतनी तीव्र गति से कार्य हो रहा है, स्वयं ठहरा हुआ है? कदापि नहीं। आपाततः देखने में सामने रक्खी पुस्तक स्थिर जान पड़ती है। किन्तु जिसके प्रत्येक कण में गति है वह स्थिर कैसे हो सकती है?

जब सृष्टि की प्रत्येक वस्तु बनती और बिगड़ती है तो यह सम्भव नहीं

---

१. तदिदं सर्वं जगदस्यां तेनेयं जगती।—शत० १।८।२।११

कि बनने के पश्चात् सम्पूर्ण सृष्टि कभी बिगड़े नहीं। बिगड़ने के पश्चात् वे परमाणु उसी रूप में नहीं रह सकते। प्रलय का भी जब आरम्भ होगा तो एक दिन अन्त भी अवश्य होगा। प्रलय के अन्त का अर्थ है—सृष्टि का फिर से उत्पन्न होना। सृष्टि का यही चक्र अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

जगत् ब्रह्म नहीं—कुछ लोगों का मत है कि जड़ प्रकृति से ही सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है। यदि जड़ पदार्थों से ही सृष्टि बनी है तो मानना पड़ेगा कि भौतिक द्रव्य या जड़ प्रकृति से ही जीवन की उत्पत्ति हुई है। आत्मा-परमात्मा जैसे किसी तत्त्व की सत्ता नहीं है। यह मत प्राचीन चार-वाकों तथा आधुनिक जड़वादियों (Materialists) का है। दूसरा मत है कि एक चेतन तत्त्व से ही भौतिक प्रकृति की उत्पत्ति हुई है। भौतिक द्रव्यों या जीवात्मा की स्वतन्त्र अथवा अन्तिम सत्ता नहीं है। यह मत शंकराचार्य आदि कतिपय भारतीय दार्शनिकों, यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों तथा पाश्चात्य दार्शनिकों में बर्कले, स्पाइनोज़ा आदि का है। इस मत के अनुसार ईश्वर से ही जीव और जगत् की उत्पत्ति हुई है।

जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि पूरा ब्रह्म जगद्रूप हो गया या उसका कोई अंश ? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप हो गया तो उसका ब्रह्मत्व ही जाता रहा, क्योंकि ऐसा होते ही उसकी सब विलक्षणताओं का लोप हो जायेगा। यदि यह माना जाये कि उसका कुछ अंश ही जगद्रूप में परिणत हुआ तो परमात्मा की अखण्डता और सर्वव्यापकता संकट में पड़ जायेगी। एक के दो ब्रह्म हो जायेंगे—एक शुद्ध ब्रह्म और दूसरा जगज्जाल में परिणत ब्रह्म। प्रसिद्ध दार्शनिक राधाकृष्णन के शब्दों में यह ऐसा ही होगा जैसे कोई आधी मुर्गी तो मारकर खा जाये और आधी को अण्डे देते रहने के लिए छोड़ दे।[1] जगद्रूप में परिणत होने-वाला ब्रह्म कार्य होने से एकदेशी हो जायेगा। एकदेशी हो जाने पर सक्रिय

---

१. We cannot keep one part of God above and another part below. It would be like taking half the fowl for cooking, leaving the other half for laying eggs.

Hindu View of Life, P. 49

होने की अवस्था में वह इधर-उधर जाता रहेगा। तब वह 'अनेजत्' न हिलने-वाला नहीं रहेगा। ब्रह्म के समान प्रकृति एक-व्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। जगत् को प्रकृति का परिणाम मानने पर वह दोष नहीं आता। जगत्सर्ग के लिए जिस रूप में जितने तत्त्व अपेक्षित होते हैं, सर्वज्ञ ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप में परिणत कर देता है।

दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव तत्त्वतः उसके कार्य में अवश्य होते हैं।[1] हार आदि को मिट्टी का और घड़े आदि को सोने का विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी से बनी चीज़ मिट्टी जैसी और सोने से बनी चीज़ सोने जैसी होनी चाहिये। परस्पर विलक्षण वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। ब्रह्म का कार्य-रूप माना जानेवाला जगत् ब्रह्म से और ब्रह्म दृश्यमान जगत् से विलक्षण दिखाई देता है। यदि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण होता, अर्थात् ब्रह्म से ही जगत् बना होता तो उसकी भाँति जगत् भी निराकार, अखण्ड, चेतन, अनुत्पन्न तथा सच्चिदानन्दस्वरूप होता, परन्तु इसके विपरीत जगत् दृश्य, खण्डरूप, अचेतन, उत्पन्न और आनन्दरहित है। सुख-दुःख, मोह आदि से युक्त जगत् नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है ? यदि ब्रह्म और जगत् में उपादानत्व के आधार पर कार्य-कारण भाव होता तो या तो पृथिव्यादि को ब्रह्म की भाँति चेतन होना चाहिए था या ब्रह्म को पृथिव्यादि की भाँति जड़, अतः एकमात्र चेतन तत्त्व से जड़ जगत् की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है। जिन आचार्यों ने यह कहा है कि ब्रह्म से जगत् ऐसे ही उत्पन्न होता है जैसे मिट्टी से घड़ा, वे अपने इस विचार को सर्वात्मना निर्बाध रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ रहे। तब उन्हें अपनी बात बनाये रखने के लिए जगत् के उपादानकारण रूप में माया की कल्पना करनी पड़ी जो त्रिकाल में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। फिर अपने इस आग्रह पर बने रहने के लिए 'विवर्त्त'[2] की कल्पना की। इस पद तक का वेदान्तसूत्रों में सर्वथा अभाव है। वेदान्तसूत्रों में 'माया' शब्द का प्रयोग

१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।—वै० दर्शन २।१।२४
२. तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः। अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्त्तः।

भी केवल एक स्थान (३।२।३) पर हुआ है और वहाँ भी स्वप्न में अनुभूत पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिए। जाग्रत् के पदार्थों का कारण माया को कहीं कथन नहीं किया गया। ब्रह्म को जगत् का उपादान सिद्ध करने की धुन में प्रायः तैत्तिरीय उपनिषद् का एक मन्त्र (३।१) प्रस्तुत किया जाता है। उनका कहना है कि इस मन्त्र में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' शब्दों से ब्रह्म का उपादानकारण होना स्वतः सिद्ध है। इस मत के अनुसार 'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में अपादान कारक अर्थात् पंचमी विभक्ति होती है, वह उपादानकारण होता है, परन्तु सभी आचार्य इस विषय में एकमत नहीं हैं। उनके मत में कारणमात्र में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है। वेद और लोक में अनेकत्र ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे—'तस्मादश्वाः अजायन्त', आदित्याज्जायते वृष्टिः', 'धनाज्जायते सुखम्', 'पुत्राज्जायते प्रमोदः' इत्यादि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। निश्चय ही यज्ञ को घोड़े का, सूर्य को वर्षा का, धन को सुख का और पुत्र को हर्ष का उपादान उस रूप में नहीं कहा जा सकता जिस रूप में मिट्टी को घड़े का। पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने पर भी वे केवल जायमान वस्तुओं के निमित्तमात्र हैं, अतः उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ (तै० ३-१) से ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने में सहायता नहीं मिलती।

यदि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण होगा तो निश्चय ही वह परिणामी होगा। परिणाम और विकार के बिना उपादान हो ही नहीं सकता। अध्यास, विवर्त्त, अनिर्वचनीयख्याति सबका आश्रय लेकर भी उपादान के रूप में निरवयव ब्रह्म से सावयव जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। स्वामी शंकराचार्य भी ब्रह्म को स्वरूप से 'कूटस्थनित्य, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त तथा निरवयव' मानते हैं। ऐसा ब्रह्म जगत् का उपादान कैसे हो सकता है? नित्यशुद्धबुद्ध एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म अशुद्ध, अचेतन तथा सुख-दुःखमय जगत् के रूप में परिणत होगा तो उसके स्वरूप की हानि होगी—वह ब्रह्म नहीं रहेगा। जड़ प्रकृति ही जगद्रूप में परिणत होती है। ब्रह्म तो निर्विकार रहकर उसका नियन्त्रण एवं संचालन करता है।

व्याप्य-व्यापक एक नहीं—इस मन्त्र के अनुसार जगत् और ईश्वर में व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है।

इस भेद के कारण दोनों में तादात्म्य नहीं हो सकता—दोनों एक नहीं हो सकते। लोहे के गोले में अग्नि होते हुए भी लोहा और अग्नि एक नहीं हैं। आकाश सबमें व्याप्त है, किन्तु उसके व्याप्य घटादि एकदेशी हैं। आकाश के सर्वव्यापक होने पर भी सब पदार्थ आकाश के समान अदृश्य, अस्पर्श्य नहीं हैं। इसी प्रकार परमेश्वर के आकाशवत् सबमें होने पर भी सब-कुछ उसके समान चेतन या आनन्दस्वरूप नहीं है। आच्छादित करनेवाला आच्छादित होनेवाले से भिन्न होना चाहिए। घर और घर में रहनेवाला—दोनों अलग-अलग होने चाहिएँ। इस प्रकार जगत् और जगत् में व्याप्त परमेश्वर, दोनों की एक-दूसरे से पृथक् सत्ता है। (द्रष्टव्य—अन्तर्यामी ब्राह्मण, बृहद्० उप०)

जगत् मिथ्या नहीं—जो यथावत् उपलब्ध है उसका वर्तमान में अभाव नहीं हो सकता। दुर्जनतोषन्याय से यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाये, अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादानकारण भी मान लिया जाये; तो भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। जैसा कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं जो उसके कारण में, अतः यदि जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् कभी मिथ्या नहीं हो सकता। अद्वैतवाद के अनुसार कार्य का कारण से अनन्यत्व है। तब, कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप जगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जायेगा तो स्वयं ब्रह्म मिथ्या हो जायेगा। कारणरूप होने से सोना सत्य और नामरूप पाने से उसका कार्य आभूषण मिथ्या नहीं हो जाता। रूपान्तर हो जाने से कोई अपना अस्तित्व नहीं खो बैठता। पानी भाप बनकर उड़ जाये तो भी जलरूप में वह मिथ्या था, यह नहीं माना जा सकता। कार्य, कारण का रूपान्तर मात्र है, अतः वह उतना ही सत्य है जितना स्वयं कारण। इस सन्दर्भ में छान्दोग्य उपनिषद् (६।१।२) में 'नख-कृन्तन' निहन्ने का दृष्टान्त दिया गया है। यदि निहन्ना मिथ्या है अर्थात् उसका अभाव है तो उसके उपादान लोहे का अभाव स्वतः सिद्ध है। जब अँगुली में अंगूठी नहीं होगी तो वहाँ सोना कैसे होगा? फिर, सत्यरूप ब्रह्म असद्रूप जगत् का ऐन्द्रजालिक तमाशा क्यों और किसके लिए करेगा? अद्वैतवाद में तो देख सकनेवाले जीव की सत्ता का भी निषेध है।

सत् और असत् दोनों सापेक्षिक हैं। शरीर तथा संसार दोनों 'सत्' हैं। इसलिए न शरीर की उपेक्षा करनी चाहिये, न संसार की। परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न संसार। इसलिए न शरीर को सब-कुछ माना जा सकता है, न संसार को। उपनिषदों के ऋषियों ने शरीर को 'सत्' माना, परन्तु आत्मा की दृष्टि से और आत्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। इसी प्रकार उन्होंने संसार को 'सत्' माना, किन्तु विश्वात्मा की दृष्टि से और विश्वात्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। जब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के सम्मुख भौतिक सुख-सामग्री देने का प्रस्ताव रक्खा तो मैत्रेयी ने उत्तर दिया कि जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी?[1] 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करनेवाले की मूल भावना कुछ ऐसी ही रही होगी कि सच्चिदानन्द ब्रह्म की अपेक्षा से सत्स्वरूप जगत् मिथ्या प्रतीत होता है। वस्तुतः ऐसा है नहीं।

जगत् अनादि नहीं—जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के पश्चात् नहीं रहता, अतः, जो संयोगज है, वह अनादि और अनन्त नहीं हो सकता। संसार में पदार्थों का बनना-बिगड़ना प्रत्यक्ष है। कठोर से कठोर पाषाण, हीरा या फौलाद को तोड़ने, गलाने या भस्म कर देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि ये सब परमाणुओं के संयोग से बने हैं। जो संयुक्त हैं वे समय पाकर पृथक्-पृथक् भी अवश्य होंगे। जिन पृथिवी आदि पदार्थों की रचना संयोगविशेष से हुई है वे अनादि कभी नहीं हो सकते, और जो अनादि नहीं वे अनन्त भी नहीं हो सकते, अतः संयोगजन्य होने से इस सृष्टि का कभी न कभी बनना निश्चित है और समय आने पर इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है।

प्रवाह से अनादि—किन्तु जैसे वर्तमान जगत् सदा बना नहीं रह सकता वैसे ही सदा के लिए इसका उच्छेद भी नहीं हो सकता। प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस कारण वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में उसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये दोनों एक-दूसरी के अनन्तर आवर्त्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत्

---

१. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।—बृहद्० उप० २।४

कभी नहीं होता।[1] संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह सत् है तो 'नासतो विद्यते भावः' के अनुसार वह पहले भी अवश्य रहा होगा और 'नाभावो विद्यते सतः' के अनुसार आगे भी अवश्य रहेगा, परन्तु उसका अपने वर्तमान रूप में सदा बने रहना आवश्यक नहीं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है अर्थात्—यद्यपि वर्तमान सृष्टि का आदि भी है और अन्त भी, सृष्टि के अनन्तर प्रलय और प्रलय के अनन्तर सृष्टि तथा सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि का चक्र अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न अन्त होगा। संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाये तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का लोप हो जाये। इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव (ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्वादि, जीव का कर्मफल-भोक्तृत्वादि) अनादि हैं, वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं।

ईशावास्यं जगत्—जितने भी लोक-लोकान्तर हैं वे सब ईश्वर द्वारा समन्तात् व्याप्त और आच्छादित हैं। परब्रह्म परमात्मा विश्व के कण-कण में विद्यमान है। परमात्मा के लिए शास्त्रों में अनेकत्र 'सर्वव्यापी', 'सर्वगत' आदि पदों का प्रयोग हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि परमात्मा दूध में घी की भाँति अदृष्ट रूप में सृष्टि में समाया है।[2] यजुर्वेद के अनुसार वह सर्वव्यापक होता हुआ सब प्रजाओं में ओतप्रोत है।[3] ऋग्वेद में बताया है कि वह पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों को सब ओर से घेरे हुए है।[4] 'वस्' धातु का 'वसने' तथा 'आच्छादने' दो अर्थों में प्रयोग होता है। इन दोनों अर्थों को व्यक्त करते हुए यजुर्वेद में कहा है कि वह परमात्मा सब पदार्थों के अन्दर भी विद्यमान है और बाहर भी।[5] गीता में भी उसे

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।—गीता
२. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।—श्वेत० १।१६
३. स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।—यजुः० ३२।८
४. स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्।—ऋक्० १०।९०।१
५. तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।—यजुः० ४०।५

पदार्थ-मात्र के भीतर-बाहर वर्त्तमान बताया है।[1] जब पानी केवल क्यारी के भीतर होता है तो वह क्यारी के आकारवाला दीखता है, किन्तु जब अन्दर-बाहर सर्वत्र आप्लावित रहता है तो आकारहीन हो जाता है। इस प्रकार यदि परमात्मा अन्तर्यामी-रूप से केवल जीवात्मा तथा जगत् के भीतर विद्यमान होता तो सम्भव है उसके आकार की कल्पना की जा सकती, किन्तु अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त होने से वह आकारहीन हो जाता है। उसी परमेश्वर को मुण्डकोपनिषद् में अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक, विभु और नित्य कहा है।[2]

नमक का ढेला जब पानी में डाला जाता है तो दिखाई देता है, किन्तु घुल जाने पर अदृश्य हो जाता है। जब स्थूल होने से एक स्थान पर था तो दिखाई देता था। जब घुल जाने पर सूक्ष्म होकर बूंद-बूंद में व्याप्त हो गया तो दिखाई देना बन्द हो गया। इसी प्रकार प्रभु सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा सृष्टि के कण-कण में व्याप्त होने से नेत्रों का विषय नहीं है—न तत्र चक्षुर्गच्छति।

अध्यात्मविद्या में प्रवेशाधिकार के लिए पहली शर्त यह है कि मनुष्य का मन आस्तिकता के भावों से भरपूर हो और इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ईश्वर को परिच्छिन्न (एकदेशीय) न मानकर उसे विभु—व्यापक-रूप में माने, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु में आकाश है, उसी प्रकार ईश्वर को जगत् में ओतप्रोत माने। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—"यह सब ब्रह्म ही है, आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, दायें, बायें, नीचे, ऊपर—सर्वत्र फैला है। यह जगत् श्रेष्ठ ब्रह्म ही है।"[3] भाव यह है कि ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है—'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।'

---

१. बहिरन्तश्च भूतानाम्।—गीता १३।१६

२. नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।—मुण्डक० १।१।६

३. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं प्रतिष्ठम्॥
—मुण्डक० २।२।११

सर फ्रांसिस यंगहस्वैण्ड का कथन है कि यह सृष्टि एक पवित्र आत्मा की शक्ति द्वारा नियन्त्रित जीती-जागती सृष्टि है। यह जगत् परमेश्वर का शरीर है जिसे हम अपनी आँखों से देख रहे हैं।[१] समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखाई या सुनाई दे रहा है, वह सभी परमात्मा से व्याप्त है।[२]

जिसमें ईशन शक्ति हो वही ईश कहलाता है। ईश का अर्थ है—शासन करना, समर्थ होना, आज्ञा करना आदि। स्वामित्व का सार्वभौम सिद्धान्त यह है कि जिसमें ईशन सामर्थ्य है वही सबका शासन कर सकता है। 'ईशावास्यम्' इस वचन में 'वास्यम्' पद के द्वारा बताया है कि ईश्वर क्या करता है। 'वास्यम्' में 'वस्' धातु है जिसका अर्थ निवास करना (वस् वसने), आच्छादित करना (वस् आच्छादने), स्थिर करना या धारण करना (वस्-स्तम्भे) तथा स्नेह करना, काटना व अपहरण करना (वस् स्नेहछेदनापहरणेषु) है। जो शासक ईशान-सामर्थ्य से युक्त है वह अपनी प्रजा में निवास करता हुआ सब-कुछ जानता, सब-कुछ घेरे हुए उनकी रक्षा करता और सबको अपने-अपने स्थान में स्थिर रखता है। वह सबसे स्नेह करता है, परन्तु विरोध करनेवालों को काटता और आवश्यकतानुसार उनके स्वत्व का अपहरण करता है।

प्रभु की व्यापकता को अनुभव करने पर मनुष्य पापवृत्तियों से ऊपर उठ जाता है। न वह अपने को अकेला मानता है और न पाप में प्रवृत्त होता है। वह व्यास के इस कथन की सत्यता को अनुभव करता है—"मैं अकेला हूँ, ऐसा तू मानता है। हृदय में निवास करनेवाले उस प्रभु को तू नहीं जानता। यह प्रभु तो वह है जो तेरे सब पापों को जानता है। फिर, तू उसके समीप पाप कैसे करता है?"[३]

---

१. The universe is a living universe, dominated by the power of the holy spirit whose body is the universe we see with our eyes.

२. यत्किञ्च जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

३. एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम्।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि॥

पाप से डरनेवाले मनुष्य विरले ही होते हैं। आम तौर पर लोग पाप करने से नहीं, पापी समझे जाने से डरते हैं। वस्तुतः वे पाप से नहीं, अपराध (शासकीय व्यवस्था के अधीन दण्डनीय कर्म) से डरते हैं। जहाँ देखनेवाला कोई न हो वहाँ अपने कर्त्तव्य से विचलित होकर कोई पाप कर लेना साधारण बात है। अपराध कर्म से बचने की नहीं, अपितु वैसा करते हुए पकड़े जाने से बचने की कोशिश की जाती है। यही कारण है कि मनुष्य पापाचरण के लिए एकान्त की खोज करता है। यदि उसे यह विश्वास हो जाये कि सृष्टि का संचालक एवं व्यवस्थापक परमात्मा 'सहस्र-शीर्षा, सहस्राक्ष एवं सहस्रपात्' होने के कारण 'भूमि विश्वतो वृत्त्वा' धरती को चारों ओर से घेरे हुए है तो पाप का आचरण करने से डरने लगे। वेद ने मनुष्य को सावधान करते हुए कहा—"जो मनुष्य खड़ा है या चल रहा है, जो दूसरों को ठगता है, जो छिपकर करतूत करता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक-साथ बैठकर जो कुछ गुप्त मन्त्रणा करते हैं उसे भी तीसरा होकर वरुण भगवान् जान लेता है।"[1]

उस सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक प्रभु से छिपाकर कुछ भी करना असम्भव है। यदि कोई दो आदमी किसी अँधेरी कोठरी में, किसी किले में अथवा नितान्त निर्जन वन में पहुँचकर मन्त्रणा करने लगें और यह समझने लगें कि वहाँ उन्हें देखनेवाला या उनकी बातें सुननेवाला कोई नहीं है तो वे बड़े भारी भ्रम में हैं। परमेश्वर वहाँ उनके पहुँचने से पहले ही बैठा है। यदि हम अपने मन की बात किसी को भी न बताएँ, केवल अपने मन में रक्खें, तो भी वह परमेश्वर से छिपी न रहेगी, क्योंकि परमेश्वर तो सबके मन में बैठा रहता है।[2] डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार 'संसार पर शासन करने और उसकी व्यवस्था करनेवाली सत्ता प्राणिमात्र के हृदय में

---

१. यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः॥
—अथर्व० ४।१६।२

२. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।—गीता १८।६१

विद्यमान है।"[1] ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास रखनेवाले मनुष्य को ऐसा कोई स्थान नहीं मिलता जहाँ वह न हो। इसलिए यह विश्वास उसे पापभीरु बना देता हैं। मस्जिद में बैठकर शराब पीनेवाले को जब यह कहकर शराब पीने से रोका गया कि खुदा के घर में शराब पीना पाप है तो वह बोला—

जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर।
या वो जगह बता दे जहाँ पर खुदा न हो।।

अकबर ने अपने दरबारियों से पूछा कि क्या कोई ऐसा काम भी है जिसे मैं (अकबर) कर सकता हूँ, लेकिन खुदा नहीं कर सकता ? और सब तो चुप रहे, किन्तु बीरबल ने उत्तर दिया—'जहाँपनाह चाहें तो मुझे अपने राज्य से निकाल सकते हैं लेकिन खुदा नहीं निकाल सकता, क्योंकि ऐसी कोई भी जगह नहीं जहाँ उसकी हुकूमत न हो।'

प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुए है। हमें उस प्रभु का अमृतमय आच्छादन प्राप्त है[2] जिनसे आवृत्त हुआ मनुष्य पूर्ण निर्भय हो जाता है—मृत्यु तक से नहीं डरता।[3] इस प्रकार प्रभु के सर्वत्र निवास का विश्वास उसे पापभीरु बनाता है तो उसका सर्वत्र आच्छादन उसे सब ओर से निर्भय कर देता है। एवं 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' का अनुभव करनेवाला भीरु भी है और वीर भी—पाप से डरता है किन्तु मृत्यु से निडर है। वस्तुतः जब तक मनुष्य अपने-आपको अनन्त शक्ति से दूर समझता है तब तक उसे हर प्रकार का भय सताता है, परन्तु ज्यों ही वह उस सत्ता का सामीप्य अनुभव करने लगता है जिसने उसे उत्पन्न किया है और जो उसका

---

१. The Spirit that rules the cosmos, the Lord who presides over the evolution of the cosmic plan, is seated in the heart of every being. —Upton Lectures, १९२६

२. अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि।

३. तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः। —अथर्व० १०।८।४४

पालन व उसकी रक्षा करता है, वह सब ओर से निर्भय हो जाता है।[1] उस अवस्था में वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, मित्र-शत्रु, ज्ञात-अज्ञात, दिन-रात तथा समस्त दिशाओं से निर्भय हो जाता है।[2]

त्यक्तेन भुञ्जीथाः—मानव-समाज में सदा से दो विचारधाराएँ चलती रही हैं। एक विचारधारा के अनुसार 'खाओ-पियो-मौज करो' ही मनुष्य जीवन का आदर्श है। चारवाकों के समान भौतिक अथवा भोगवादी दृष्टिकोण रखनेवाले यूनान में ऐपीक्यूरियन कहाते थे। वे खाने के लिए जीते थे, जीने के लिए नहीं खाते थे। वर्तमान में जीने की प्रवृत्तिवाले इन लोगों के मत में जीवन का सम्पूर्ण आनन्द जितना हो सके जल्दी से जल्दी लूट लेना चाहिए। आगे क्या होगा—कौन जानता है ! इसलिए जब तक जियो सुख से जियो, पैसा पास में न हो तो उधार ले लो। शरीर के भस्म हो जाने पर किसका लेना और किसका देना ! न लेनेवाला फिर कभी यहाँ आयेगा और न देनेवाला।[3] आधुनिक सन्दर्भ में यही बात ज्यों की त्यों अंग्रेजी में कही गई है।[4] आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व बाबर ने इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया था—इस जिन्दगी में ऐश करो,

---

१. A man feels afraid when he thinks himself separated from the Infinite strength supply, but when he comes into consciousness of at-one-ment with the power that made him and sustains him, he fears none.

२. अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ —अथर्व० १६।१५।५, ६

३. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं (सुरां) पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥
—चारवाक दर्शन

४. Eat, drink and be merry, whether you beg, borrow or steal.

दुनिया में दुवारा आने का अवसर नहीं मिलेगा।[1] और आज से हज़ारों लाखों वर्ष पूर्व यही वात वाल्मीकि रामायण में रावण ने सीता से कही थी।[2]

दूसरी विचारधारा के अनुसार संसार दुःखों का घर है। यहाँ जन्म में दुःख है, वुढ़ापा दुःखरूप है, व्याधियाँ दुःख का कारण हैं, मृत्यु का दुःख तो सवसे वड़ा दुःख है ही। वार-वार जन्म लेना और वार-वार मरना सव दुःखों का मूल है।[3] योगदर्शन में कहा है—"मनुष्य-जीवन के अन्तिम भाग में वुढ़ापे और मृत्यु का दुःख, मध्यम भाग में अनेक प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक दुःख और जो दुःख अतीत में पड़ चुके हैं उनकी स्मृति का दुःख—इस प्रकार विवेकी पुरुष के लिए सारा जीवन दुःखों से भरा हुआ है। उसके साथ जव गुणों और वृत्तियों का विरोध मिल जाता है तो मनुष्य के जीवन का प्याला दुःखों से भर जाता है।[4] वौद्धमत में विश्व के आधार-भूत पाँच स्कन्ध स्वीकार्य हैं—संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना और संस्कार। इनमें गौ, अश्व, मनुष्यादि देहरूप नाम का सम्वन्ध मानना 'संज्ञा स्कन्ध'; इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाना 'रूपस्कन्ध'; आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान दोनों 'विज्ञानस्कन्ध', रूपस्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध दोनों से उत्पन्न सुख-दुःख आदि का अनुभव 'वेदनास्कन्ध' और वेदना-स्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधातृषादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान तथा धर्माधर्मरूप व्यवहार 'संस्कारस्कन्ध' कहाते हैं।[5] ये पाँचों स्कन्ध दुःखात्मक

---

१. वावर व ऐश कोश कि आलम दुवारा नेस्त।

२. भुंक्ष्व भोगान्यथाकामं पिब भीरु रमस्व च।

—वा० रा० सुन्दरकाण्ड २०।२३

३. जन्म दुःखं जरादुःखं व्याधिदुःखं पुनः पुनः।
मृत्युदुःखं महादुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि॥

४. परिणामताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

—योगदर्शन २।१५

५. गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः; सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः; आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः; सुख-दुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः; वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमादयोर्धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः।

हैं। बौद्धों की भाँति अन्य अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक संसार को दु:खरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। 'नानक दुखिया सब संसार'। दु:ख हेय है। जहाँ दु:ख है वहाँ से हट जाने में ही कल्याण है। संसार दु:खरूप है। इसलिए संसार को त्याग देना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने आध्यात्मिकता के शिखर पर खड़े होकर आवाज़ दी, तो शंकर ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष किया। परिणामतः सैकड़ों-हज़ारों ने घरबार का परित्याग कर जंगल की राह ली। जे० एच० होम्स (J. H. Holms) ने कहा—"संसारमात्र धोखा है। उसमें कुछ भी सार नहीं है। किसी भी बुरी वस्तु की तरह उसे त्याग देना चाहिए। जीवन का रस आत्मा के भीतर ही मिलेगा।"[1]

इस प्रकार की निराशा केवल वैज्ञानिक जगत् तक सीमित नहीं है। ऐसे सभी लोग उसमें ग्रस्त हैं जिन्हें जीवन में दु:ख ही दु:ख दीख पड़ता है। मार्क ट्वेन जैसे विनोदी स्वभाव के लेखक ने भी कहा—"हज़ारों लोग पैदा होते हैं। वे रोटी के लिए घोर परिश्रम करते हैं, छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे से झगड़ते हैं, बुढ़ापा आता है और उसके साथ अनेक रोग चले आते हैं। आये दिन उनके कष्ट बढ़ते जाते हैं, उसके अहं को आघात पहुँचता है। अन्ततः उनकी सभी इच्छाएँ मर जाती हैं और वे संसार से विदा हो जाते हैं। उनका स्थान दूसरे लोग ले लेते हैं और उसी प्रकार वे भी संसार से कूच कर जाते हैं। यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है और अनन्त काल तक इसी प्रकार चलता रहेगा।"[2]

---

१. We are through with this world. It is indeed all emptiness, vanity and deceipt. We will leave it as we will any other evil thing; and we will turn inward to ourselves and seek within our souls the way that leads to life.

२. A myriad of men are born, they labour, sweat and struggle for bread; they scramble for little mean advantages over each other; age creeps opon; infirmities follow, shames and humiliation bring down their

यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—'किमाश्चर्यम्' अर्थात् 'संसार में आश्चर्य क्या है ?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"आये दिन लोगों को मृत्यु के मुख में जाता देखकर भी बचे हुए समझते हैं कि वे सदा यहीं बने रहेंगे—इससे बड़ा आश्चर्य और कौन-सा हो सकता है ?"[1] इतिहास तो सभी पढ़ते हैं। जो नहीं पढ़ते वे अपनी आँखों के सामने इतिहास को बनता देखते हैं। फिर भी, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनुष्य ने इतिहास से एक ही बात सीखी है, और वह यह कि उसने इतिहास से कुछ नहीं सीखा।[2] इस विचारधारा के लोग भविष्य की चिन्ता करते हुए वर्त्तमान में रहते हैं और तपस्वियों का-सा जीवन व्यतीत करते हैं।

संसार के इतिहास में मनुष्य-समाज इन्हीं दो विचारधाराओं में बँटकर अपने-अपने मार्ग पर चलता आया है। इनमें एक भोगमार्ग है और दूसरा त्यागमार्ग। भोग में मनुष्य की—प्राणिमात्र की—स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए, जहाँ शंकर और बुद्ध की बात को सिद्धान्तरूप में स्वीकार करते हुए भी उनके पीछे चलनेवाले बहुत नहीं निकले, वहाँ भोगवादी प्रवृत्ति ने

---

prides and vanities. Those they love are taken away from them and the joy of life is turned into aching grief. The burden of pain, care and misery grows heavier year by year. At length ambition is dead, pride is dead, vanity is dead; longing for release is in their place and they vanish from the world. Then another myriad takes their place and copies all they did and goes along the same profitless road and vanish as they vanished—to make room for another and a million more myriads to follow the same arid path.

—from 'Has Science Discovered God' ?

१. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

—महा० यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद

२. The only lesson which we have learnt from history is that man has learnt nothing from history.

प्राय: सभी को फँसाये रक्खा है।

संसार दुःखरूप नहीं—संसार में दुःख को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु आनन्दस्वरूप परमेश्वर की रची सृष्टि में दुःख ही दुःख हो—आनन्द कहीं हो ही नहीं—यह कैसे सम्भव है? प्रत्येक प्राणी सुख जानकर ही उसमें प्रवृत्त होता और दुःख जानकर उससे निवृत्त होता है। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। यदि संसार में दुःख-ही-दुःख होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति न होती, किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री के लिए आवश्यक साधनोपायों के चिन्तन में प्रवृत्त रहता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने पर भी जैसे-तैसे कुछ काल और यहाँ बना रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। 'जीवेम शरदः शतम्' से सन्तुष्ट न होकर 'भूयश्च शरदः शतात्'—सौ वर्ष से भी अधिक जीते रहना की कामना करता है। दुःख को सहते हुए भी मनुष्य मौत को भगाकर यहाँ जीना चाहता है। ऐसा क्यों है?

वस्तुत: संसार में सुख-दुःख दोनों हैं, किन्तु दुःख की तुलना में सुख कहीं अधिक है। 'अकामः न कुतश्चनोनः'—पूर्णकाम परमेश्वर ने अपने लिए नहीं, जीव के कल्याण के लिए—उसके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की है। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का मिश्रण रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है, अत: अपवर्ग—मोक्ष की अपेक्षा से भोग हेय है और भोग की अपेक्षा से अपवर्ग श्रेयस्कर है। ऐसा जानकर और 'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्' के सिद्धान्त को मानकर, भोग को अपवर्ग के साधनमात्र के रूप में अपनाकर संसार में रहनेवाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति 'हान' है जो मोक्ष का अपर नाम है। इसका उपाय है विवेकख्याति—प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान। इस प्रकार दुःख का कारण संसार नहीं, अपितु उसके यथार्थ स्वरूप को न समझना है।

जगद्रचना जीव के लिए—साधारण मनुष्य की भी बिना प्रयोजन के

किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती।[1] अतः सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म द्वारा सृष्टि-रचना का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। यह ठीक है कि परमेश्वर में अनन्त ज्ञान, वल और क्रिया है—सृष्टिरचना उसका स्वाभाविक गुण है।[2] उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने में सफल है, किन्तु स्वभावतः जगत् की रचना निष्प्रयोजन नहीं हो सकती। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। प्रकृति के अवयवों के मेल से त्रिगुणात्मक जगत् की रचना होती है। भोग्य स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता। जड़ होने से भी प्रकृति अपना उपभोग स्वयं नहीं कर सकती। अचेतन भोग्यजगत् का भोक्ता कोई चेतन ही हो सकता है। परमेश्वर पूर्ण, अकाम तथा आनन्दस्वरूप है।[3] इसलिए उसके लिए अनावश्यक है। नित्यमुक्त होने से उसके लिए अपवर्ग के साधनरूप में भी किसी की अपेक्षा नहीं। तव, उसकी अपनी भलाई के न होने पर, पर प्राणियों की भलाई के लिए ही ब्रह्म अनादि उपादानतत्त्व प्रकृति से सृष्टि की रचना करता है।[4] सांख्यदर्शन के अनुसार भी संहत अर्थात् संघात के रूप में विद्यमान इस जगत् की प्रवृत्ति पर के लिए है।[5] इस प्रकार 'भुञ्जीथाः' क्रिया-पद के कर्त्ता के रूप में ब्रह्म से भिन्न जीव का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति सर्वतोभावेन जीव के लिए ही प्रवृत्त रहती है। जीवों के पाप-पुण्यों का फल देने और अन्ततः मोक्ष प्राप्त कराने के लिए ही ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। प्राकृत पदार्थों से आत्मा का भोग प्रत्यक्ष सम्पन्न होता है। अपवर्ग की सिद्धि समाधिलाभ से, आत्मसाक्षात्कार से होती है। देहेन्द्रियादि के सहयोग से आत्मा समाधि-

---

१. न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते।

२. स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।—श्वेत० ६।८

३. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
—अथर्व० १०।८।४४

४. तस्यात्मानुग्रहाभावे भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।
—योगदर्शन १।२५, व्यासभाष्य

५. संहतपरार्थत्वात्। —सांख्यदर्शन १।१०५

लाभ के लिए प्रयत्नशील रहता है। आत्मा के अपवर्ग के लिए यही सृष्टि का उपयोग है। विवेकज्ञान हो जाने पर परमलक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से उसके लिए सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता, परन्तु ऐसा समय कभी नहीं आता जब भोक्ता आत्माओं का सर्वथा अभाव हो जाए। समस्त असंख्य जीवों का एक-साथ मुक्त होना सम्भव नहीं और मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाने पर जीवों की मुक्ति से पुनरावृत्ति (मुक्ति का आदि है तो उसका अन्त भी अवश्यम्भावी है) होने से समय-समय पर उनका प्रत्यागमन होता रहता है। जब तक भोक्ता आत्मा विद्यमान हैं तब तक सृष्टि की अपेक्षा बनी रहेगी। इस प्रकार नित्य जीवों के बन्ध-मोक्ष के कारण सृष्टिरचना का क्रम अनवरत बना रहेगा।

भोग एवं त्याग का समन्वय—जीवन के प्रति वैदिक अथवा औपनिषदिक विचारधारा का दृष्टिकोण त्यागपूर्वक भोग का है। ईश्वर ने जीव के भोग तथा अपवर्ग के लिए ही इस प्रकाश (सत्त्व), क्रिया (रजस्) व स्थिति (तमस्) स्वभाववाले तथा भूत (पाँचों स्थूलभूत तथा सूक्ष्मभूत एवं उसके कारण तन्मात्र) और इन्द्रिय (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, आन्तर इन्द्रिय मन, बुद्धि एवं अहंकार) स्वरूपवाले जगत् को बनाया है।[1] चेतन आत्मा इसमें भोक्तारूप में उपस्थित रहता है। महर्षि कणाद के अनुसार, जिससे इस जीवन में सफलता और विभूति प्राप्त हों और उसके पश्चात् मोक्ष मिल सके, वह धर्म है।[2] जब अभ्युदय का साधन धर्म है तो अभ्युदय अर्थात् प्राकृत पदार्थों का उपभोग पाप कैसे हो सकता है? जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से लेकर चक्रवर्ती राज्य तक अभ्युदय के अन्तर्गत है। जब सृष्टि की रचना ही मनुष्य के लिए की गई है तो सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करना न केवल अनुचित नहीं, अपितु स्वाभाविक एवं आवश्यक है। मनुष्य द्वारा अपनी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं को बाह्य साधनों से पूरा करने का नाम भोग है। यदि

---

१. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।
—यो० द० २।१८

२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —वै० द० १।१।२

मनुष्य निर्दोष साधनों से अपना भोग्य प्राप्त करें और सीमित रूप में संयमपूर्वक उसका उपभोग करे तो वह तनिक भी दोषी नहीं होगा। बुराई तब होती है जब वह भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए हेय साधनों से काम लेता है। जब वैभव के लिए ठगी, शक्ति के लिए क्रूरता और इन्द्रियसुख के लिए दुराचार आदि का प्रयोग करता है तो वह अपराधी बन जाता है।

जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता। धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्य वस्तुओं को जुटाने के लिए होता है। वस्तुएँ, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं। शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधनभूत होता है। उपभोग भी, उपभोग के लिए नहीं, उससे होनेवाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है, और यह सुख या आनन्द की अनुभूति भौतिक शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है। इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है।

केवल 'भुञ्जीथाः' का निर्देश सर्वथा अनावश्यक था। वह तो जीवात्मा की प्रवृत्ति है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी भोग में प्रवृत्त हैं—यहाँ तक कि 'जीवो जीवस्य भोजनम्' इस वचन के अनुसार बड़ा जीव अपने से छोटे और निर्बल जीव को अपना भोग्य मानकर उसे खाने में संकोच नहीं करता, परन्तु मनुष्य में और पशु-पक्षियों में यह अन्तर है कि मनुष्य सदसद्विवेक का सामर्थ्य रखता है, पशु-पक्षी नहीं। जहाँ जीवन है वहाँ गति है, किन्तु प्रगति (उच्च गति) और अधोगति (नीच गति) केवल मनुष्य में है। पशु-पक्षी आदि जैसे हज़ारों-लाखों वर्ष पहले थे वैसे ही आज हैं। दीपक पर गिरते ही पतंगा जल जाता है, सदा से जलता रहा है। आज तक उसने अपना बचाव करना नहीं सीखा। यह सब उनमें विवेकबुद्धि के अभाव के कारण है। विवेकबुद्धि के कारण मनुष्य में धर्म और अधर्म—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में भेद करने की शक्ति है। तब, मनुष्य देहधारी जीव भी यदि पाशविक सिद्धान्त पर चलकर उनकी तरह मात्र भोग में प्रवृत्त रहता है तो उसका वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ही उसकी विशेषता है। संसार बना ही हमारे लिए है। इसलिए हम उसे भोगें अवश्य,

किन्तु निस्संग होकर—निष्काम भाव से।

हमारा व्यावहारिक जीवन पदे-पदे अलिप्त होकर—त्यागपूर्वक उपभोग का संकेत करता है। चलना चाहते हो तो पैर को अपने पहले स्थान से उठाकर आगे धरना होगा। चलनेवाले का पैर यदि एक स्थान पर चिपककर रह जाये तो यात्रा असम्भव हो जाये। चिपटे विना मार्ग पर चलते जाने का नाम क्रान्ति है। क्रान्ति का अर्थ है आगे बढ़ना; और आगे बढ़ने का अर्थ है पिछले स्थान को छोड़ना। सीट पर चिपक कर बैठनेवाला व्यक्ति अपने गन्तव्य पर कभी नहीं पहुँच सकेगा। सड़क चलने के लिए है, डेरा डालने के लिए नहीं। यदि एक स्थान पर जमकर खड़े हो जाओगे तो कोई न कोई वहाँ से हट जाने के लिए कहेगा। कहने से नहीं हटोगे तो बलात् हटा दिये जाओगे। सार्वजनिक पार्क सबके लिए है। उसमें घूमने-फिरने, उसके सौन्दर्य को निहारने, उसमें खिले फूलों की सुगन्ध लेने का हर किसी को अधिकार है, किन्तु वहाँ के पेड़-पौधों को उखाड़कर या फूलों को तोड़कर ले-जाने अथवा नियत समय के पश्चात् वहाँ ठहरने का अधिकार किसी को नहीं है। दूसरे शब्दों में, सड़क, पार्क आदि के प्रयोग या उपभोग का अधिकार हर किसी का है, किन्तु उनपर स्वत्वाधिकार किसी का नहीं। गाड़ी में बैठकर नियमानुसार यात्रा करने का अधिकार सबको है, किन्तु टिकट के अनुसार अपने गन्तव्य पर पहुँचकर भी स्वेच्छा से सीट न छोड़नेवाले को बलात् उतार दिया जाता है। इसी प्रकार संसार के पदार्थों को भोगने का अधिकार सबको है, परन्तु उन्हें अपना समझकर उनसे चिपक जाने का अधिकार किसी को नहीं है। यही कारण है कि एक दिन सभी को सब-कुछ यहीं छोड़कर चले जाना पड़ता है। न भोगने का नाम त्याग नहीं, भोग से न चिपटने का नाम त्याग है। भोग तो जीवन के साथ है। दुःख भोग में नहीं, भोग से चिपटने या भोगों को मर्यादित न रखने में है।

योगाभ्यास की पहली सीढ़ी के रूप में महर्षि पतंजलि ने जिन यमों के पालन का निर्देश किया है उनमें एक महाव्रत 'अपरिग्रह' है। 'परि' का अर्थ है चारों ओर से और 'ग्रह' का अर्थ है पकड़ना। 'अपरिग्रह' का अर्थ है परिग्रह का निषेध अथवा किसी चीज़ पर अपनी पकड़ को ढीला करना। हम कितना भी यत्न करें, कोई भोग अन्त तक नहीं टिक सकता, अतः भोगों

को भोगो और भोगकर पीछे हट जाओ, चिपककर मत बैठो। सुकरात ने कहा था—"मैं मरूँ या न मरूँ, यह मेरे वश की बात नहीं है, परन्तु रोते हुए मरूँ या हँसते हुए—यह मेरे वश में है। सो, जब मरना ही है तो हँसते-हँसते क्यों न मरूँ ?" हम चाहें, न चाहें—एक दिन सब-कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। स्वेच्छा से छोड़ने में सुख है, बलात् छुड़वाये जाने में दुःख है। तब स्वेच्छा से क्यों न छोड़ें ?

आई अजल तो आप अकेले चले गये।
सब-कुछ था जमा घर में मगर कुछ न ले गये॥

आग में हाथ डालने से जल जाता है। हाथ को कुछ दूर रखकर सेकने से अपेक्षित गर्मी तो मिल जाती है, हाथ नहीं जलता।[1] संसार के पदार्थों का भोग इसी प्रकार—अलिप्त रहकर करना श्रेयस्कर है।

तनिक सूक्ष्मता से विचार करने पर पता चलता है कि वास्तव में आनन्द है ही त्यागपूर्वक भोग करने में। कल्पना कीजिये कि किसी को रसगुल्ला खाने में आनन्द आता है। एक-एक करके वह कई रसगुल्ले खा लेता है। निश्चय ही रसगुल्ले की चाह पेट को नहीं, जिह्वा को होती है। खाने में आनन्द उसी को आता है। हम उसे समझाते हैं—'भलेमानस, इतने पैसे क्यों खराब करते हो ? एक रसगुल्ला लेकर निरन्तर उसी को मुँह में रक्खे रहो, जिह्वा उसका स्वाद लेती रहेगी।' एक-आध मिनट के लिए तो भले ही वह हमारी बात मान जाये, किन्तु देर तक नहीं। यदि हम उसे वैसा करने के लिए विवश करें तो ऐसा समय भी आ सकता है जब उसे वह रसगुल्ला इतना अरुचिकर लगने लगे कि उससे पीछा छुड़ाने के लिए उसे गले से नीचे उतारने या बाहर थूकने—उसका त्याग करने की अनुमति पाने के लिए हमें दस-पाँच रुपये तक देने के लिए तैयार हो जाये। रसगुल्ला भी वही है और उसका मजा लेनेवाली जिह्वा भी वही है। फिर ऐसा क्यों ? प्रकारान्तर से यह उसी तथ्य की ओर संकेत है कि संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक भोग करने में सुख है, उनसे चिपटने में नहीं। जीवन के हर स्तर पर अनासक्ति अनिवार्य है। भोग ठीक है, किन्तु उसका अन्त त्याग में है।

---

१. One should warm his hands without burning them.

वस्तुतः बुद्धिमान् मनुष्य तो उतना ही लेना चाहेगा जितना वह न्याय-पूर्वक—सचाई और ईमानदारी से प्राप्त कर सके, संयमपूर्वक जिसका उपभोग कर सके, प्रसन्नतापूर्वक दूसरों में बाँट सके और सन्तोषपूर्वक छोड़ सके।[1] ये केवल कहने की बातें नहीं हैं। हमारा इतिहास और परम्पराएँ इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता की साक्षी हैं। वनगमन के समय राम की अवस्था का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि राम की आकृति जैसी राज्याभिषेक की तैयारी के समय थी, ठीक वैसी ही वनगमन के समय थी।[2] यह केवल राम की ही बात नहीं थी। रघुकुल की तो यह परम्परागत विशेषता थी। वे त्याग = दान के लिए ही संग्रह करते थे।[3] बादलों के समान देने के लिए ही लेते थे।[4] इस भावना की अभिव्यक्ति वेद के इन शब्दों में मिलती है—"हे दो हाथोंवाले मनुष्य! तू सौ हाथोंवाला होकर संग्रह कर, किन्तु हज़ार हाथोंवाला होकर दान कर।"[5]

यह ठीक है कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं, जीवों के भोग के लिए हैं, फिर भी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इन पदार्थों को ईश्वर का समझकर ही उनका भोग करे। ऐसा विश्वास हो जाने पर मनुष्य प्रत्येक पदार्थ में अपना प्रयोगाधिकार ही समझेगा। 'अमुक पदार्थ मेरा है'—यह ममत्व ही संसार में सब दुःखों का मूल है। जो मनुष्य संसार के पदार्थों में केवल अपना प्रयोगाधिकार समझता है, वह प्रयोग का समय समाप्त होने पर उन्हें स्वेच्छा से छोड़ देता है। जैसे उसे मिला है वैसे ही उससे छूट भी जाना है—यह जानते हुए घण्टी बजते ही छोड़ने को तैयार रहता है।

---

१. A wise man will desire no more than what he can get justly, use soberly, distribute cheerfully and leave contentedly. —Great Thoughts Jan. 1933.

२. आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितः कश्चित् स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥
—महानाटक ३।२५

३. त्यागाय संभृतार्थानाम्।—रघुवंश १।७

४. आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।—रघुवंश ४।८६

५. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।—अथर्ववेद ३।२४।५

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर ॥।

इस उदात्त भावनावाले व्यक्ति के लिए मृत्यु का समय दुःख का समय नहीं होता वह तो हँसते-हँसते संसार को छोड़कर चल देता है। 'ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो'—स्वामी दयानन्द की वाणी से अन्तिम समय में निःसृत ये शब्द संसार में अनासक्त भाव से रहने की पराकाष्ठा के परिचायक हैं।

भोग दो प्रकार का है—भोग से भोग और त्याग से भोग। भोग से भोग वह है जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों से स्वयं करता है। ऐसे भोग की मर्यादा होती है। मुख से अन्न-भोग की सीमा है। हम उतना ही खा सकते हैं जितना पेट में समा सके और पच सके। उससे अधिक ग्रहण करने पर वह आत्मसात् नहीं होगा, किसी न किसी मार्ग से निकल जायेगा। अनधिकार चेष्टा करने पर रोगग्रस्त होकर जो पहले पच गया था उसे भी साथ ले-जायेगा। पैसेवाला जितनी चाहे रोटी खरीद सकता है, परन्तु खा कितनी सकता है? जितने चाहे मकान बनवा सकता है, किन्तु रहेगा कितनों में? जितनी चाहें मोटरें ख़रीद सकता है, किन्तु उसके काम कितनी आ सकेंगी? चार-छह रोटियों से अधिक वह खा नहीं सकता, एक मकान से अधिक में रह नहीं सकता, एक से अधिक मोटरों में बैठ नहीं सकता। भोग से भोग अमर्याद नहीं किया जा सकता।

त्याग का पर्याय दान है। दान से भोग की सीमा नहीं। स्वयं खाने की सीमा है, परन्तु दूसरों को खिलाने की कोई सीमा नहीं। सैकड़ों-हज़ारों-लाखों को खिलाया जा सकता है। जितनों को चाहें वस्त्र दान किये जा सकते हैं। अपने सामर्थ्य के अनुसार जितने चाहे औषधालय, विद्यालय, धर्मशालाएँ, कुएँ आदि बनवाये जा सकते हैं जिनसे लाखों लोग लाभ उठा सकते हैं। जैसे इन लोकोपकारक कार्यों की कोई सीमा नहीं, वैसे ही उनसे लाभान्वित होनेवाले लोगों को सुखी देखकर प्राप्त होनेवाले आनन्द की भी कोई सीमा नहीं। त्यागभावना से किये जा रहे भोग का विस्तार अमर्याद है तो उससे प्राप्त अभौतिक सुख भी अमर्याद हैं। मनुष्य की समस्त प्रवृत्ति अधिकाधिक आनन्द-लाभ के लिए होती है। यह ध्रुव सत्य है कि दूसरों को खिलाने में जो आनन्द आता है वह स्वयं खाने की तुलना में कहीं अधिक

होता है। इसलिए उपनिषद् कहती है—त्यागपूर्वक भोग करो।

भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वर्तमान और भविष्यत् के समन्वय को लेकर ही भारतीय मनीषियों ने मनुष्य-जीवन को चार आश्रमों में बाँटा था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीनों त्याग के, पैसा छोड़ने के आश्रम थे। केवल गृहस्थ पैसा कमाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी गृहस्थ हो सकते थे। परन्तु इनमें भी केवल वैश्य ही पैसा कमाता था। वैश्य के लिए भी यह व्यवस्था थी कि जिस प्रकार सारा भोजन पेट में चला जाता है, किन्तु पेट उसे अपने पास न रखकर रस-रक्त आदि के रूप में सारे शरीर में बाँट देता है, उसी प्रकार वैश्य अपनी कमाई सारे समाज में बाँट देता था।[1] भोजन पेट में पड़ा रहने से शरीर रोगी हो जाता है। सम्पूर्ण सम्पत्ति वैश्य के पास जमा रह जाने से समाज का शरीर रोगी न हो जाये, इसलिए वैश्य समाज के न्यासी या ट्रस्टी के रूप में सम्पत्ति का अधिकारी होकर भी उसका यथोचित वितरण कर देता था।

वैदिक विचारधारा में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म माना गया है।[2] यज्ञ के मूल में त्यागभाव अनुस्यूत है—वह त्यागभावना का अपर नाम अथवा उसका मूर्त्तरूप है। यज्ञ का अर्थ है—देवपूजा, संगतिकरण और दान।[3] जिस कर्म से श्रेष्ठ पुरुषों का यथेष्ट मान हो, समाज में संगठन की भावना को बल मिले और असहायों की सहायता हो वह यज्ञ कहाता है। त्याग-भावना के बिना यह कैसे सम्भव है? सब-कुछ अपने लिए ही समेटकर रखनेवाला व्यक्ति यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हो सकता। यज्ञ में जो धन लगता है वह सब केवल यज्ञकर्त्ता के हितार्थ नहीं, वरन् सबके लाभार्थ होता है। बार-बार 'इदन्न मम' की आवृत्ति यज्ञकर्ता को इस बात का ध्यान दिलाती रहती है कि वह यज्ञ का स्वामी नहीं, इस श्रेष्ठतम कर्म में निमित्तमात्र है। प्राचीन काल में छोटे-बड़े अनेक प्रकार के यज्ञ होते थे। उन्हीं में एक सर्वमेध यज्ञ

---

१. दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः।

२. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।—शतपथ

३. यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु।

होता था। उसमें सर्वस्व त्यागकर जनता के हितार्थ दे दिया जाता था। रघु जैसे चक्रवर्ती सम्राट् के पास भी दूसरे दिन मिट्टी के बर्तन रह जाते थे। यज्ञ में मनुष्य स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर परार्थभाव से प्रेरित होता था। यज्ञ में बार-बार 'स्वाहा' शब्द का उद्घोष होता है और साथ ही प्रायः हर बार 'इदन्न मम' का। 'स्वाहा' शब्द 'ओहाक् त्यागे' धातु से निष्पन्न होने से स्वयं ही त्याग का प्रतीक है। 'इदन्न मम' की आवृत्ति इसी भावना का अनुमोदन करती है।

उपदेश्य जीवात्मा है—शास्त्रों में अनेकत्र विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश किया है। 'कृषिमित्कृपस्व० (ऋ १०-३४-१३), 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' (ऋ० १०-१९१-२) इत्यादि अनुज्ञा अर्थात् विधिवाक्य हैं और 'गां मा हिंसीः' (यजुः० १३-४३), 'अक्षैर्मा दीव्यः' (ऋ० १०-३४-१३) इत्यादि निषेधवाक्य हैं। ये सभी उपदेशात्मक वचन हैं। सांख्य दर्शन में कहा है कि उपदेश्य और उपदेष्टा दोनों के होने पर ही उपदेश सफल होता है।[1] वेद ईश्वरीय वाणी है, अतः सर्वज्ञ परमेश्वर ही यहाँ उपदेष्टा है! विधिनिषेधात्मक वाक्यों द्वारा परमेश्वर का अपने लिए 'किं कर्म किमकर्म' का निर्देश करना सर्वथा उपहासास्पद है। प्रस्तुत मन्त्र में 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' तथा 'मा गृधः' जैसे विधिनिषेधपरक वाक्य नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म को लक्ष्य करके नहीं कहे जा सकते। वेदान्त दर्शन में लिखा है कि अनुज्ञा-परिहार=विधिनिषेध के अनुष्ठान के लिए देह के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है।[2] स्वकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए जीवात्मा का देह के साथ सम्बन्ध अवश्यम्भावी है। यह स्थिति ब्रह्म के लिए नहीं है, अतः 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' और 'मा गृधः' के समान अनुज्ञा-परिहार जीवात्मा के लिए ही सार्थक ठहरते हैं। इसी उपनिषद् के १६वें मन्त्र में जीव को 'क्रतु' नाम से सम्बोधित किया है। 'क्रतु' का अर्थ है कर्त्ता। कर्त्ता तो ईश्वर भी है, किन्तु जीव कर्त्ता और भोक्ता दोनों है। भोक्ता होने से जीव, ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। जीव न ब्रह्म है, न ब्रह्म का अंश।

---

१. उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः।—सां० द० ३।७९

२. अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।—वेदान्त० २।३।४८

अंश में अंशी के गुणों का होना अनिवार्य है, परन्तु जीव ब्रह्म के सदृश नहीं है। अंश की उत्पत्ति अंशी से होती है। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी होता है। यदि आत्मा की उत्पत्ति और विनाश होता है तो वह पार्थिव होनी चाहिए। फिर देह में और आत्मा में क्या अन्तर रहेगा? इसके अतिरिक्त अंश सदा सीमित वस्तु का हो सकता है, असीमित का नहीं। परमात्मा असीम है। अंश होते ही वह असीम नहीं रह जायेगा। सीमित परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं रहेगा, अतः जीव की स्वतन्त्र सत्ता मानना ही युक्तिसंगत है। ईश्वर तो अभोक्ता है। जीव न होगा तो 'भुञ्जीथाः' कहना भी व्यर्थ होगा। यही नहीं। यदि सब-कुछ ब्रह्म ही है तो जो कोई कुछ भी करेगा, ब्रह्म होने से ठीक ही करेगा। उस अवस्था में किसी प्रकार की आचार-संहिता अन्यथासिद्ध होगी। डॉ० राधाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है कि यदि सब-कुछ ब्रह्म है तो हमें एक जेबकतरे के काम में बाधा डालने का क्या अधिकार है?[1]

मा गृधः—मनुष्य को सुखपूर्वक रहने के लिए जितना अन्न-वस्त्रादि अपेक्षित है उतना तो उसे मिलना ही चाहिए। उतना लेने में किंचित् भी दोष नहीं है। दोष है उससे अधिक या अत्यधिक लेने में। भागवत में कहा है कि जितने से मनुष्य का पेट भरे उतने पर उसका अधिकार है। उससे अधिक लेने या संग्रह करनेवाला चोर है और उसे इसका दण्ड मिलना चाहिए।[2]

विषयों का सौन्दर्य हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है और हम उन विषयों का शरीर धारण करने के लिए नहीं, वासना की तृप्ति के लिए उपभोग करने लगते हैं। तब उन विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन को जुटाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। फिर एक दिन यही धन हमारे 'निधन'—मृत्यु का कारण बन जाता है। मक्खी जब तक शहद से

१. To the Hindu ethical rules are meaningless, because the world is divine. If everything is God, then there is no excuse for interfering with the sacred duties of a pickpocket. —Hindu View of Life, P. 50

२. यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति॥

भरे कटोरे के किनारे पर बैठकर उसका रसास्वादन करती है तब तक सुखी है, किन्तु ज्यों ही लुब्ध होकर उसमें डुबकी लगाती है त्यों ही शहद में लिप्त होकर प्राण गँवा बैठती है। खाना जीने के लिए है, किन्तु जब हम खाने के लिए जीने लगते हैं तो सुख और शान्ति हमसे कोसों दूर भाग जाते हैं। आवश्यकता से अधिक जुटाना ही लालच कहाता है। 'मा गृधः' में इसी का निषेध है।

परिग्रहवृत्ति अर्थात् आवश्यकता से अधिक संग्रह की प्रवृत्ति[1] दोषावह है। यही वैयक्तिक दुःखों और सामाजिक विषमताओं का मूल है। आवश्यकताओं की मर्यादा तो निर्धारित की जा सकती है, किन्तु तृष्णा या आवश्यकता से 'अधिक' की कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। जीवन-भर जुटाते रहने पर भी उसका अन्त नहीं मिलता। तब मनुष्य विवश हो भर्तृहरि के स्वर में स्वर मिलाकर कहता है कि तृष्णा तो न मरी, हम ही मर गये।[2] इसलिए महात्मा बुद्ध ने दुःखों का निदान करते हुए तृष्णा को ही सब दुःखों का मूल बताया।

जीवन के निर्वाहार्थ अत्यावश्यक वस्तुओं को उपलब्ध करने में सचेष्ट व्यक्ति के लिए 'मा गृधः' नहीं कहा गया है। आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ अपेक्षित पदार्थों की प्राप्ति तो परिश्रम, सचाई और ईमानदारी से सम्भव है, परन्तु आवश्यकता से अधिक—अपरिमित सम्पत्ति का संग्रह 'सुपथ' से कठिन ही नहीं, नितान्त असम्भव है। ईसामसीह ने सम्भवतः ऐसे ही लोगों के लिए कहा होगा कि सुई के नक्के में से ऊँट का निकल जाना सम्भव है,

---

१. देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः।

२. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥—वैराग्यशतक

तुलना करो—La vie non, mais nouns nouns en allon, (French) =Not life but we disappear.

Jawaharlal Nehru—Promises to keep.

किन्तु किसी धनी पुरुष के लिए स्वर्ग में जाना सम्भव नहीं है।[1] इतना तो निर्विवाद है कि सम्पत्ति का बोझ लादे कोई भी मनुष्य अध्यात्म में प्रवेश नहीं कर सकता। भोग के पश्चात् सब-कुछ त्यागकर संन्यासी बन जानेवाला ही उस मार्ग पर चल सकता है। अथवा, अपवादरूप में, कोई जनक जैसा विदेह जिसे सारी मिथिला के जल जाने पर भी तनिक सेक नहीं पहुँचता।[2]

मन्त्र में 'मा गृधः' तथा 'कस्य स्विद्धनम्' दोनों स्वतन्त्र वाक्य हैं। कई विद्वान् इन दोनों को एक मानकर 'किसी के धन का लालच न कर' यह अर्थ करते हैं, परन्तु यह अर्थ न युक्तियुक्त है, न संगत। 'किसी का' यह अर्थ 'कस्यचित्' का तो हो सकता है, 'कस्य स्वित्' का नहीं। वस्तुतः ऐसा अर्थ करने पर 'स्वित्' पद अन्यथासिद्ध हो जाता है, परन्तु वेद में, जिसके लिए महर्षि कणाद की घोषणा है—'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे', एक भी शब्द व्यर्थ नहीं हो सकता। प्रश्न, वितर्क तथा निश्चय रूप अर्थों का वाचक 'स्वित्' यहाँ निष्प्रयोजन नहीं है। कठोपनिषद् (१-५) में कहा है—'किं स्वित् यमस्य कर्त्तव्यम्।' ऐसे ही 'कस्य स्वित्' में 'स्वित्' सोचने के अर्थ में है। फिर, 'किसी के धन का लालच न कर' यह अर्थ करने पर अपने धन का लालच करने—अमर्यादित सम्पत्ति जुटाने पर तो कोई रोक नहीं लगती। स्वार्थ या ईर्ष्या के वशीभूत होकर पराये स्वत्व को ललचाई आँखों से देखना और येन-केन-प्रकारेण उसे हड़पने की चेष्टा या इच्छा करना तो पाप है ही, किन्तु इतने से समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता का परिहार नहीं होता। 'मा गृधः' की भावना तो यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह की इच्छा न करे। 'गृधः' शब्द के भाव को व्यक्त करने-वाला अंगरेज़ी का शब्द है—Greed जिसका अर्थ है अपरिमित एवं अतृप्त वित्तैषणा।[3] जो जिसका है वह तो उसका है ही, जो मेरा है यह भी सबका है। यह भाव ही 'मा गृधः' का मूल स्वर है—उसकी आत्मा है। ब्रह्मविद्या

---

१. It is easier for a camel to pass through the eye of a needle than for a rich man to enter heaven.
२. मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चिद् दह्यते।
३. Inordinate or insatiate longing for wealth.
—O. E. D. (Oxford English Dictionary)

के प्रकरण में 'किसी के धन का लालच न कर' की अपेक्षा 'लालच न कर, धन किसका है' अधिक संगत है। पहले अर्थ से पराये स्वत्व का अथवा चोरी का त्याग ही सूचित होता है, जबकि यहाँ जल में कमल की भाँति जगत् में निर्लोभ होकर रहना अभिप्रेत है।

जब सब-कुछ प्रजापति का (कस्य=प्रजापतेः) है तो उसपर उसकी समस्त प्रजा का अधिकार है। जो सबका है उसपर किसी एक का अधिकार कैसे हो सकता है? यदि कोई एक व्यक्ति सब-कुछ समेटकर अपने अधिकार में लेने की चेष्टा करता है तो यह दूसरों के अधिकार का हनन होने से सामाजिक अपराध होगा।

जितने लोगों को हम किसी अवसर पर अपने यहाँ आमन्त्रित करते हैं उनके लिए अपेक्षित भोजन, आवास आदि की समुचित व्यवस्था करना नहीं भूलते। सरकार भी अपनी योजनाएँ सुदूर भविष्य को ध्यान में रखकर बनाती है। तब यह कैसे सम्भव है कि प्रजापति परमेश्वर अपनी प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ अपेक्षित पदार्थों की सृष्टि न करे? परन्तु कुछ मनुष्य अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आवश्यकता से इतना अधिक संग्रह कर लेते हैं कि वह दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधक बन जाता है।

'Nature' नामक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में H. Levy नाम के एक विद्वान् ने लिखा था—"क्या संसार की जनसंख्या इतनी बढ़ गई है कि विज्ञान की सहायता से बढ़े हुए उत्पादन के होते हुए भी हम अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल हैं या हम इतने मूर्ख हैं कि उत्पादन और वितरण में सामंजस्य करके कोई तर्कसम्मत व्यवस्था नहीं कर सके।[1] इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ (U,N.O.) की वार्षिक रिपोर्ट

---

१. "Has the world population multiplied so enormously that, even with the emmensely increased productivity that science has provided, we inhabitants of the globe cannot supply our needs, or are we merely unscientific fools who have not been able to take the first step towards a rational view of the world supply and distribution?"

का निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

"हम जानते हैं कि संसार की जनसंख्या का आधा भाग भूखा मर रहा है और दो-तिहाई को भूखे पेट सोना पड़ता है। हम यह भी जानते हैं कि आधुनिक विज्ञान के द्वारा बढ़े हुए उत्पादन से, वितरण की उचित व्यवस्था होने पर इससे कहीं अधिक जनसंख्या का पेट भरा जा सकता है—इतनी अधिक का कि जिसकी कल्पना भी आज तक किसी ने न की होगी। यह जानकारी है, और संयुक्त राष्ट्र संघ खाद्य एवं कृषि संगठन भी है। फिर भी लोग भूखे मर रहे हैं।[1]

कतिपय मनुष्यों की स्वार्थपरता, परिग्रहवृत्ति तथा भोग में त्याग-भावना के न होने से एक स्थान पर आवश्यकता से अधिक संग्रह के कारण ही अन्यत्र पदार्थों का अभाव हो जाता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार ही पदार्थों का ग्रहण करे—लोभ न करे—तो किसी को किसी वस्तु की कमी न रहे।

वैज्ञानिकों की दृष्टि में स्वार्थभावना का परित्याग जैसा आध्यात्मिक उन्नति और समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक है, वैसा ही भौतिक जगत् में वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए भी अपेक्षित है। जर्मनी के विश्वविख्यात वैज्ञानिक प्रोफेसर मैक्सप्लांक के शब्दों में—'प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य ने अपने स्वार्थ को ही अपनी समस्त विचारधारा का केन्द्र बनाये रक्खा। उसने सृष्टि के पदार्थमात्र को दो वर्गों में बाँटकर रक्खा—अपने लिए उपयोगी तथा अनुपयोगी। जब तक उसने यह आत्मकेन्द्रित एवं संकुचित दृष्टिकोण अपनाये रक्खा तब तक विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण

१. We know that one half of mankind is starving and two-thirds go to bed hungry at night—if they have any. We also know that modern techniques and modern knowledge coupled with an adequate scheme of distribution would enable us to feed well a far larger population that anyone has heretofore considered possible. The knowledge exists. The machinery—the U. N. Food and Agriculture Organisation is ready. And yet men starve. —U.N.O. Report 1955.

उपलब्धि न हो सकी। जब मनुष्य ने अपने तात्कालिक लाभ की उपेक्षा करके व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया, तभी प्रकृति ने उसके समक्ष अपने रहस्यों को खोलकर रक्खा। वैज्ञानिक उन्नति से सम्बन्धित यह उदाहरण इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि यदि मनुष्य अपने-आपको जानना—पाना चाहता है तो पहले उसे अपने-आपको खोना या भुलाना होगा।"[1]

कस्य स्विद्धनम्—यहाँ 'स्वित्' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'स्वित्' निपात अव्यय है। 'प्रश्ने वितर्के च'—'स्वित्' का प्रश्न और वितर्क अर्थों में प्रयोग होता है। प्रश्न है—कस्य धनम् अर्थात् धन किसका है? इस प्रश्न का उत्तर वितर्क अर्थात् नाना प्रकार से पक्ष-विपक्ष पर सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करके देना चाहिए। 'धन किसका है?' इस प्रश्न के न होने से स्पष्ट है कि धन को अपना जतानेवाले अनेक हैं। सभी अपने अपने पक्ष में प्रबल तर्क उपस्थित करते हैं। किसान कहते हैं—धरती का नाम वसुन्धरा (धन को धारण करनेवाली) है। हम धरती की सेवा करते हैं। खेती करके धान्य उत्पन्न कर हम वसुन्धरा में से धन खींचते हैं। इसलिए धन हमारा है। वैश्य कहते हैं—'व्यापारे वसति लक्ष्मी' धन तो व्यापार और उद्योगों से मिलता है। व्यापार करना हमारा काम है। पैसा पैसे को खींचता है। हम पैसा लगाकर कारखाने चलाते हैं, देश-विदेश में

---

१. In the earlier stages of human thought, man made himself and his own interest the centre of his system of reasoning. He divided everything in the world into two categories—one friendly or harmless and the other inimical or dangerous for himself. As long as he remained bound within the limits of this method of treating his environment, it was impossible for him to make any approach towards real scientific knowledge. It was only when he had taken leave of his own immediate interests that the world of nature began to unveil its mystery to him. The progress of science is an excellent illustration of the truth of the paradox that man must lose his soul before he can find it.

व्यापार करके धन का संक्रमण और विनिमय करके राष्ट्रीय आय को बढ़ाते हैं, इसलिए धन हमारा है। मज़दूर कहते हैं—धन तो परिश्रम का फल है। पूंजीपति तो वातानूकूलित घरों में बैठकर मौज करते हैं। यदि खून-पसीना एक करके हम दिन-रात कारखानों में काम न करें तो उत्पादन के अभाव में धन कहाँ से आयेगा? इसलिए धन को पैदा करनेवाले हम हैं और इस कारण उसपर हमारा ही अधिकार है। क्षत्रिय कहते हैं कि अराजकता की स्थिति में न कल-कारखाने चल सकते हैं और न खेत-खलिहानों में अनाज सुरक्षित रह सकता है। देश में शान्ति एवं व्यवस्था के बिना किसी प्रकार का उत्पादन सम्भव नहीं। हम न हों तो जिसकी लाठी उसकी भैंस हो जाये। हम अपनी जान हथेली पर रखकर सबको संरक्षण देते और लूटमार से बचाते हैं। इसलिए धन हमारा है। ब्राह्मण कहते हैं—यदि हम ज्ञान के द्वारा बुद्धि का विकास न करें, नई-नई योजनाएँ प्रस्तुत न करें, नये-नये आविष्कार न करें, नये-नये शस्त्रास्त्र तैयार न करें तो सब-कुछ धरा रह जाये। यदि हम लोगों का चरित्र-निर्माण न करें, सचाई और ईमानदारी का उपदेश न दें, स्नेह और सौहार्द्र की शिक्षा न दें तो लोग मनुष्य होकर भी पशुवत् आचरण करें। इस सबके अनुरोध से धन पर हमारा अधिकार सिद्ध होता है।

धन किसका है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस प्रकार अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने का नाम वितर्क है। 'स्वित्' का तीसरा अर्थ निश्चय है। किसी निश्चय पर पहुँचने के लिए ही तर्क-वितर्क का आश्रय लिया जाता है। किसी निश्चय की ओर न ले-जानेवाला वितर्क, कुतर्क कहाता है। वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर भी 'कस्य' शब्द के रूप में मन्त्र में विद्यमान है। यह धन (धनम्) निश्चय ही (स्वित्) परमेश्वर का (कस्य) है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'क' का अर्थ प्रजापति है।[1] प्रजा का पालन व रक्षण करनेवाला प्रजापति कहाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने यजुर्वेद-भाष्य में 'रेवान्' पद का अर्थ करते हुए लिखा है कि संसार में जितना भी धन है वह सब परमेश्वर का है।[2] महीधर तथा उव्वटाचार्य ने

१. प्रजापतिर्वै कः।—शत० ब्रा० ७-४-१-१९

२. यदिदं विश्वस्मिन् धनमस्ति तदिदं सर्वं जगदीश्वरस्यैव।—यजु:०३।२९

भी इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—धन का नाम 'रै' है और ब्रह्मणस्पति धन का स्वामी है।[1] जब मनुष्य को यह निश्चय हो जाता है कि धन का स्वामी परमेश्वर है तो उसमें स्वत्व का भाव नहीं रहता। धरती पर रहने-वाले लोग उसकी व्यवस्था में, उसके आदेशानुसार, अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थं उसका उपभोग करते हैं। ऐसा जानने और मानने पर स्वत्व के लिए झगड़ा खड़ा नहीं हो सकता।

'स्वित्' पद में सु+इत् दो पदविभाग हैं। 'सु' का प्रसिद्ध अर्थ उत्तम है और इत्' में 'इ' धातु प्रगति, अध्ययन, ज्ञानसम्पादन और स्मरण अर्थ में है। इस प्रकार इन दो विभागों से निष्पन्न 'स्वित्' पद का अर्थ 'उत्तम प्रगति, ज्ञान-सम्पादन तथा स्मरण' हुआ। जिसका धन होने से प्रजा को उत्तम ज्ञान, प्रगति आदि की उपलब्धि हो उसी का धन पर अधिकार हो—यह स्वित् का भाव है। धन किसके स्वामित्व में रहे, इसके अन्दर जो प्रश्न है और प्रश्न का उत्तर पाने के लिए जो वितर्क किया जाता है उसका यही आशय है।

'क' का एक अर्थ सुख या सुखदाता है। जो प्रजा का पालन करे और उसे सुख पहुँचाये वह प्रजापति है। राजा भी इसीलिए प्रजापति कहाता है। उसके पास विभिन्न साधनों से जो धन आता है वह प्रजा के हित-साधनार्थ आता है। जो राजा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए उसका उपयोग करता है वह अनधिकार चेष्टा करता है और समय आने पर दण्ड पाता है। विष्णु प्रजा का पालन करता है। इसलिए वह लक्ष्मीपति या धन का स्वामी कहाता है। जो लेता ही लेता है, देता कुछ नहीं, वह राक्षस है। जो जितना लेता है उतना ही देता है वह मनुष्य है और जो जितना लेता है उससे बढ़कर देता है वह देवता है।

जब कोई व्यक्ति मर जाता है तो उसकी सम्पत्ति का स्वामी उसका पुत्र हो जाता है। जब वह भी मर जाता है तो उसका पुत्र उसकी सम्पत्ति का स्वामी होता है। ऐसा होते-होते इस परम्परा में यदि कोई व्यक्ति निःसन्तान मर जाये तो उसकी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता

---

१. रै इति धननाम, ब्रह्मणस्पतिर्धनवान्।

है। जिसकी थी, अन्ततः उसके पास चली गई। इसलिए उपनिषद् ने निश्चय करके कह दिया—कस्य (प्रजापतेः=ईश्वरस्य भूपतेर्वा) धनम्—समस्त धन प्रजापालक परमेश्वर अथवा राजा का है। यहाँ धन शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में है। मनुष्य के उपभोग की प्रत्येक वस्तु जिससे उसे सुख मिलता है, उसका धन है।

धन के स्वामित्व के सम्बन्ध में जब यह भावना नहीं रहती तो वह लड़ाई-झगड़े, यहाँ तक कि बड़े-बड़े युद्धों का कारण बन जाता है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के अनुसार वेद में 'वाजसातौ' युद्ध का नाम है। 'वाजसातौ' का अर्थ धन का बटवारा है। धन के साथ युद्ध का सम्बन्ध होने से ही वेद में युद्ध का एक नाम महाधन है। धन का विभाजन झगड़े का कारण बन जाता है। उस समय यदि वितर्कपूर्वक यह निश्चय हो जाये कि वस्तुतः धन किसका है तो झगड़ा तुरन्त शान्त हो जाये। ऐसा न करके जब प्रत्येक व्यक्ति धन को अपना ही बताता है तो उन सबकी सम्मति में वह धन उनमें से किसी का नहीं अथवा सबका साझा है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

स्व-स्वामिभाव से स्वत्व स्वामी के साथ रहना चाहिए, परन्तु संसार का कोई भी पदार्थ किसी के साथ जाता नहीं देखा जाता। भोग से बचा हुआ सब यहीं रह जाता है। आज तक धन ने किसी का साथ नहीं दिया। इससे स्पष्ट है कि संसार के पदार्थों पर स्वत्वाधिकार किसी का नहीं है। यह विचार मनुष्य को अनेक पापों से विरत कर देता है। "नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति" इन शब्दों में वृद्ध मन्त्री ने भोज के माध्यम से उसकी हत्या करने के इच्छुक मुञ्ज से कहा कि 'यह धरती आज तक किसी के साथ नहीं गई। तेरे साथ भी नहीं जायेगी।' इस एक पंक्ति ने लोभोपहत मुञ्ज की आँखें खोल दीं और वह हत्या के पाप से विरत हो गया। निश्चय ही 'कस्य स्विद्धनम्' का यह विचार मनुष्य को सांसारिक पदार्थों की वास्तविकता से अवगत करा देता है और उसका जीवन हविरूप अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाला बन जाता है।

ईश्वर, जीव और प्रकृति में परस्पर जो सम्बन्ध है, वेदों तथा उपनिषदों में अनेकत्र उसका आलंकारिक वर्णन मिलता है। वेद में वृक्ष के रूप

में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का उपभोग करनेवाले के रूप में जीव का और मात्र द्रष्टा के रूप में ईश्वर का कथन करके जीव से ईश्वर का, ईश्वर से जीव का तथा इन दोनों से प्रकृति का भिन्न होना प्रतिपादित है।[1]

मुण्डकोपनिषद् में भी यह बात प्रायः मिलते जुलते शब्दों में इस प्रकार कही गई है—अनादि नित्य जीव प्रकृतिरूपी वृक्ष के भोग में निमग्न हो मोह के कारण शोक करने लगता है, किन्तु जब वह उसी वृक्ष पर निर्लिप्त भाव से बैठे अपने से अन्य अर्थात् भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता हैं तो शोकरहित हो जाता है।[2]

यही बात श्वेताश्वतर उपनिषद् में अन्यत्र किंचिद् भिन्न शब्दों में दुहराई गई है—दो चेतन हैं—एक सर्वज्ञ ईश और दूसरा अल्पज्ञ अनीश अर्थात् जीवात्मा। भोक्ता के निमित्त अजा अर्थात् नित्य प्रकृति है। उनमें जो अनन्त है और जिसकी शक्ति अनेक रूपों में प्रकट हो रही है, वह कर्मों का अकर्त्ता है। जो मनुष्य इन तीनों को भली प्रकार जान लेता है, वह मानो ब्रह्म को जान लेता है।[3]

ईशोपनिषद् के प्रस्तुत मन्त्र में प्रकारान्तर से ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का निर्देश किया है। यहाँ व्यापकरूप में ईश्वर, व्याप्यरूप में जगत् अथवा प्रकृति तथा भोक्तारूप में जीवात्मा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

जगत्यां—नित्य परिवर्त्तनशील संसार में, यत्किञ्च—जो कुछ भी,

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥
—ऋक्० १।१६४।२०, श्वेत० ४।६, मुण्डक० ३।१।१

२. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
—मुण्डक० ३।१।२

३. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥

जगत्—चराचर वस्तु है, इदं सर्वं—यह सब, ईशा—ईश्वर से, वास्यं—व्याप्त है। तेन—इसलिए, त्यक्तेन—त्यागपूर्वक, भुञ्जीथाः—पदार्थों का उपभोग करो, मा:गृधः—लोभ मत करो, धनं—धन, कस्यस्वित्—सोचो, किसका है ?

Whatever moves in the moving world is pervaded by God. Therefore, enjoy this world in renunciation or without attachment. Do not covet. Whose wealth is it ?

निष्काम कर्म

कर्म करो—यह संसार है—संसरति, निरन्तर चलता रहता है। जगत् है—गति करता रहता है। कार्लाइल के शब्दों में यह संसार 'कृ' (करना) धातु के विविध रूपों के सिवा कुछ नहीं है।[1] मनुष्य भी इस संसार का अंग है। जब सारी मशीन चल रही हो तो ऐसा कौन-सा पुर्जा है जो बिना चले रहे। गतिशील संसार में किसी के निष्क्रिय या अकर्मण्य रहने का क्या मतलब ? अकर्मण्यता का अर्थ अन्ततः ह्रास या विनाश है। 'जो पानी खड़ा सो सड़ा'। मनुष्य आत्मा है—निरन्तर गतिवाला (अत सातत्यगमने) है। 'प्रयत्न' आत्मा का गुण, लक्षण या लिंग (चिह्न) है। इसलिए कर्म किये बिना वह रह नहीं सकता। कोई चाहे या न चाहे, जब तक प्राकृत शरीर है तब तक, प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से विवश होकर उसे कुछ न कुछ कर्म करते रहना होगा।[2] अनुगीता में यही बात इन शब्दों में कही गई है—"लोक में किसी से घड़ीभर के लिए भी कर्म नहीं छूटते।"[3] जब स्थूल शरीर निश्चेष्ट रहता है तो सूक्ष्म शरीर कर्म में प्रवृत्त रहता है। स्वप्नावस्था में जब समस्त इन्द्रियाँ शिथिल होकर अपना काम छोड़ बैठती हैं तो मन को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है और जो काम वह जाग्रत् में नहीं कर सकता था उन्हें भी स्वप्न में कर डालता है। सुषुप्ति में भी सर्वथा निष्क्रिय नहीं रहता। सर्वथा निष्क्रिय होने का अर्थ है मृत्यु। मनुष्य

---

१. What is this universe, but an infinite conjugation of the verb 'to do'.

२. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। —गीता ३।५

३. नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्त्तमपि लभ्यते ।
—अनुगीता, अश्व० २।७

की तो बिसात ही क्या, सूर्य, चन्द्रमा आदि भी निरन्तर कार्य करते रहते हैं। पृथिवी घूमती है, वायु चलती है, नदी बहती है, फूल खिलते हैं, पानी बरसता है। इस प्रकार जड़-चेतन में सर्वत्र गति है। महाभारत में द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा था—कर्म के बिना प्राणिमात्र का निर्वाह नहीं।[1] कर्म का परित्याग करने पर तो खाने को भी नहीं मिलेगा।[2] यही कारण है कि संसार के समस्त क्रियाकलाप को मिथ्या घोषित करनेवाले साधु भी दो रोटी के लिए घर-घर अलख जगाते फिरते हैं।

कार्य सृष्टि का सार्वत्रिक नियम है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'गीतांजलि, में लिखा है—'मुक्ति कहाँ है? परमेश्वर ने स्वयं सृष्टि रचना आदि का काम सहर्ष अपने ऊपर ले रक्खा है। वह तो सदा के लिए हमसे जुड़ा है। तुम्हें मन्दिर के भीतरी कोने में भगवान् नहीं मिलेगा। वह तो वहाँ है जहाँ किसान हल चला रहा है या जहाँ सड़क पर बैठा मजदूर पत्थर तोड़ रहा है। वह तो वर्षा और धूप में उनके साथ है। उसके कपड़े धूल में भरे हैं। यदि तुम उससे मिलना चाहते हो तो अपने कीमती कपड़े उतार दो और उसकी तरह धूलभरी धरती पर आ जाओ।[3]

परमात्मा हर समय काम में लगा रहता है। वह न्याय के दिन तक खाली बैठा रहनेवाला नहीं है। वह तुम्हारे हृदय को रक्त-संचालन में

---

१. अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन।

—महा० वनपर्व ३२।८

२. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः।—गीता ३।८

३. Where is this deliverance to be found? Our master himself has joyfully taken upon himself the bonds of creation; he is bound with us all for ever. Whom dost thou worship in this lovely dark corner of a temple with all doors shut? He is there where the tiller is tilling the hard ground and where the pathmaker is breaking stones. He is with them in sun and in shower and his garment is covered with dust. Put off thy holy mantle and even like him come down on the dusty soil.

—Geetanjali

प्रवृत्त रखता है, तुम्हारे पेट की रसायनशाला में काम करता है, प्रकृति के परमाणुओं को गति देता है, फूलों में रंग भरता है, बीजों को अंकुरित करता है, नक्षत्रों का संचालन करता है। मेरा पिता काम में लगा रहता है, मैं भी काम में लगा रहता हूँ।[1]

वस्तुतः नित्य कर्मशील पिता की सन्तान निष्क्रिय कैसे हो सकती है? जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है तो उसमें रहनेवाला मनुष्य उससे कैसे बच सकता है? उपनिषद् जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्मनिष्ठ बने रहने का निर्देश करती है। संन्यास में कर्म का त्याग अपेक्षित है, किन्तु वहाँ कर्म से काम्य (सकाम) कर्म अभिप्रेत है, कर्ममात्र नहीं। गीता के गूढ़ रहस्य को न समझकर किसी समय गीता के निष्काम कर्म के नाम पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पड़ी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसलिए नहीं दिया था कि अर्जुन संन्यासी बनकर भीख माँगता फिरे या लंगोटी लगाकर हिमालय की ओर प्रस्थान करे। किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का निश्चय करने में उसका उपक्रम, उपसंहार तथा अभ्यास निर्णायक होते हैं[2], अर्थात् जो बात ग्रन्थ के प्रारम्भ में कही गई हो, बीच-बीच में बार-बार कही गई हो और अन्त में कही गई हो वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य होता है। गीता के उपदेश का आरम्भ 'विसृज्य सशरं चापम्' (१।४७) की अवस्था में 'धर्मसंमूढ़चेता' (२।७) अर्जुन के 'न योत्स्ये' (२।९) कहने पर हुआ और अन्त उसके 'करिष्ये वचनं तव' (१८।७३) के साथ हुआ। श्रीकृष्ण का वचन या कथन क्या था जिसके अनुसार अर्जुन ने आचरण करना स्वीकार किया—यह गीता में यत्र-तत्र अनेकत्र उपलब्ध है। अर्जुन

---

१. God is eternaly busy. He is not loafing on his throne till the Day of Judgement. He is pumping at your heart, operating in the laboratory stomach, directing infinite atoms of matter, painting the lilies, whirling the stars, pushing up the seeds. My father worketh hitherto and I work.

—Great Thoughts. April, १९३३

२. उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।

को समझाने के लिए श्रीकृष्ण तरह-तरह की बातें कहते हैं, नये-नये तर्क प्रस्तुत करते हैं, किन्तु हर तर्क के अन्त में बार-बार 'तस्मात्' (इसलिए) पद का प्रयोग करके कहते हैं—तस्माद् युध्यस्व भारत' (२।१८), 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः (२।३७) 'मामनुस्मर युध्य च' (८।७), 'तस्मादुत्तिष्ठ जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्' (११।३३) इत्यादि। जिस उपदेश ने उपदेश्य को—न लड़ने की घोषणा करनेवाले अर्जुन को लड़ाई में प्रवृत्त कर दिया उसे अकर्मण्यता का प्रतिपादक कैसे माना जा सकता है? गोलमाल शब्दों में नहीं, अपितु खुले शब्दों में श्रीकृष्ण ने कर्म करने की प्रेरणा करते हुए कहा—'कुरु कर्म' (४।१५), कर्म कर। इतना अवश्य है कि उसके साथ उन्होंने दो शर्तें लगा दीं—एक यह कि सदा कर्त्तव्य कर्म कर, और दूसरी यह कि फल की आसक्ति को छोड़कर कर्म कर।[1] गीता के सम्बन्ध में कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इस प्रकार गीता का आधार उपनिषद् हैं और सभी उपनिषदों का मूल ईशोपनिषद् है। ईशोपनिषद् का प्रस्तुत मन्त्र स्पष्ट आदेश दे रहा है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' अर्थात् कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करो। इस प्रकार जब औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार कर्म हेय नहीं है तो उसपर आधारित गीता कर्म का निषेध कैसे कर सकती है? फिर, कर्त्तव्याकर्त्तव्य में परम प्रमाण श्रुति है।[2] श्रुति का वचन है—'अकर्मा दस्युः' (ऋ० १०।२२।८) अर्थात् जो कर्म नहीं करता वह दस्यु है।

कुछ लोगों का मत है कि कर्म करने का विधान अज्ञानियों—मूर्खों के लिए है। जो ज्ञानी हैं उनके लिए तो कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती। श्री शंकराचार्य ईशोपनिषद् के भाष्य में लिखते हैं कि "इस (कुर्वन्नेवेह कर्माणि···) मन्त्र में केवल उन लोगों के लिए उपदेश है जिनको आत्मा

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।—गीता ३।१९

२. अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥—मनु० २।१३

का ज्ञान नहीं है और जो इस कारण आत्मज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है ।[1] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वेदों, उपनिषदों आदि में जहाँ कहीं भी कर्म करने की प्रेरणा की है वह सब मूर्खों तथा अशक्तों के लिए है। इसपर शांकर मत में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड में भेद करके दोनों को एक-दूसरे का विरोधी बना दिया गया। ब्रह्मज्ञों की दृष्टि में कर्म हेय हो गया। इस मन्त्र की व्याख्या के अन्त में शांकर भाष्य में प्रश्न उठाया गया कि "यह कैसे ज्ञात हुआ कि प्रथम मन्त्र (ईशावास्यम्...) में संन्यासी की ज्ञान निष्ठा और द्वितीय (कुर्वंन्नेवेह...) में ज्ञान के सामर्थ्य से हीन की कर्मनिष्ठा अभिप्रेत है ?"[2] उपनिषद् के इन दोनों मन्त्रों में किसी भी शब्द से यह ध्वनित नहीं होता कि पहला मन्त्र ज्ञानियों के लिए है और दूसरा अनात्मज्ञ मूर्खों के लिए, परन्तु शंकराचार्य इसका समाधान करते हुए कहते हैं—"क्या तुम यह भूल गये कि ज्ञान और कर्म का विरोध तो पर्वत के समान अकम्प्य या अटल है।"[3] वस्तुतः ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी नहीं, एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञाननिष्ठ ही कर्मनिष्ठ हो सकता है। ज्ञाननिष्ठ के लिए ही 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि', 'असक्तः कर्म समाचर' आदि का उपदेश सार्थक हो सकता है। गीता के उपदेश का एकमात्र उद्देश्य संन्यास और ज्ञानयोग की बातें करनेवाले अर्जुन को कर्म में प्रवृत्त करना था। जानना मात्र जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है। जो ज्ञान कर्म में सहायक नहीं वह किस काम का ? गीता में कर्म, अकर्म में भेद करने का निर्देश किया है।[4] यदि करना-धरना कुछ नहीं है तो इस ऊहापोह में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? यदि कहीं जाना नहीं तो रास्ता पूछकर क्या करना

---

१. अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः कुर्वंन्नेवेहेति ।

२. कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिने ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ।

३. उच्यते, ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यां यथोक्ते न स्मरसि किम् ।

४. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥—गीता ४।१७

है ? जो ज्ञान से शून्य है वह कर्मनिष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य जो मन में सोचता है वही वाणी से कहता है और जो वाणी से कहता है वही कर्म में करता है।[1] इसी प्रकार जो कर्मनिष्ठ है वह अज्ञानी नहीं हो सकता, शरीर में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों एक साथ है। दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का विरोध रोग का लक्षण है। यह लक्षण पागलों में पाया जाता है, ज्ञानियों में नहीं। उपनिषद् की स्पष्ट घोषणा है कि यथेष्ट कर्मों का अनुष्ठान कर्म के बन्धन से मुक्त कराने का साधन है। ज्ञान और कर्म में पर्वत के समान अटल विरोध होता तो दूसरे मन्त्र में 'कुर्वन्नेव' के स्थान पर 'अकुर्वन्नेव' कहा गया होता।

कुछ लोगों का विचार है कि यतः शंकराचार्य के समय में कर्मकाण्ड का अर्थ याज्ञिक क्रियाओं तक सीमित था, अतः वेदानुयायियों को निरर्थक कृत्यों से बचाने के लिए ही उन्होंने कर्म का विरोध किया होगा, परन्तु स्वयं शंकर स्वामी के भाष्य को देखने पर इस विचार की पुष्टि नहीं होती। शंकराचार्य ने कर्म को मूर्खों के लिए सुरक्षित करके अग्निहोत्रादि यज्ञों के किये जाने की अनुमति दे दी है। कर्मकाण्ड से बचाने के लिए कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होने को कहना वदतो व्याघात है, परन्तु सकाम यज्ञीय कर्मों को तो स्वयं उपनिषद् ने जन्म-मरण के बन्धन में डालनेवाला बताया है।[2] ज्ञान और कर्म के विरोध को पर्वत के समान अटल बताकर भी यज्ञीय कर्मों को अनुमति प्रदान करने का काम शंकर जैसे निखिल तन्त्र स्वतन्त्र आचार्य ही कर सकते थे। कर्म करना तो मनुष्य का स्वभाव है, अतः शंकराचार्य लोगों को कर्मजाल से तो न छुड़ा सके, उन्हें मायाजाल में फँसाकर वैदिक कर्त्तव्य कर्मों से विरत अवश्य कर दिया। शंकर का विचार कितना निराधार है यह मुण्डकोपनिषद् के ही इस कथन से स्पष्ट हो जाता है—"वेदों में जिन कर्मों का विधान है उनका त्रेतायुग में विस्तृत रूप से पालन

---

१. यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

२. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥—मुण्डक० १।२।७

किया जाता था। सच्चे मार्ग पर चलने की इच्छा रखनेवाले मनुष्यो! तुम उनका पालन करो। संसार में शुभ कर्मों का मार्ग ही तुम्हारे लिए कल्याणकारी है।[1] इन शुभ कर्मों में यज्ञ भी है जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में बताया है।[2] शतपथब्राह्मण ने तो यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है।[3] और यजुर्वेद के प्रारम्भ में ही परमेश्वर से उस श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करने की प्रार्थना की गई है।[4] जिन कर्मों के करने से अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो अर्थात् जिन कर्मों से प्राप्त अभ्युदय निःश्रेयस के मार्ग में बाधक न हो वही कर्त्तव्य कर्म है जिनमें प्रवृत्त रहने की प्रेरणा उपनिषद् में की गई है।

नैत्यिक क्रिया का नाम कर्म नहीं है। वह तो जड़ पदार्थों में भी होती है। कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता और कर्त्ता वह है जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम्' अर्थात् करने, न करने या अन्यथा करने में स्वतन्त्र हो—जिसे तत्तत् कर्म के लिए उत्तरदायी माना जा सके, अतः स्वेच्छा से की गई क्रिया को ही कर्म नाम से अभिहित किया जा सकता है। केसरलिंग का कथन है—लाखों करोड़ों वर्षों से पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्कर काट रही है और भविष्य में भी काटती रहेगी। उसमें परिवर्तन की इच्छा कभी नहीं हुई। क्षुद्र जन्तुओं के विषय में भी यही बात है।[5] पशुओं के कर्म करने पर उनका फल नहीं मिलता, क्योंकि भोगयोनि में होने के कारण उनमें कर्म, अकर्म और विकर्म में भेद करने का सामर्थ्य नहीं है। पशुओं में चेतना और बुद्धि

---

१. तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।।—मुण्डक १।२।१
२. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
३. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
४. वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।—यजुः० १।१
५. For millions of years the earth has been revolving round the sun without any desire for change and so it will continue for another million years. Just so every lower process of life is routine.

का अत्यान्ताभाव नहीं है, परन्तु उनमें बुद्धि और तर्कशक्ति का विकास वहाँ तक नहीं हुआ होता जहाँ कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न उठ सके और उन्हें सदाचार-कदाचार का उत्तरदाता ठहराया जा सके। मनुष्य जीवन में भी ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनमें उत्तरदायित्व का प्रश्न नहीं उठता। जिस प्रकार पशुओं को उनके अनाचार (हमारी दृष्टि में) के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता उसी प्रकार १-२ वर्ष के वच्चे को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के लिए उत्तरदाता नहीं ठहराया जाता। वस्तुतः उत्तरदयित्व मस्तिष्क की विशेष विकसित अवस्था पर निर्भर करता है। न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं कि जब बालक माता की कोख से जन्म लेता है तभी कर्म का अधिकारी नहीं हो जाता।[1] ईसाई मत में पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं माना जाता, परन्तु वाइबल में एक स्थान पर लिखा है कि पाप का दण्ड मृत्यु है।[2] कभी-कभी तो बच्चा जन्म लेने के तुरन्त बाद मर जाता है। ४-६ मास की आयु में तो बहुत से बच्चों को मरते देखा-सुना जाता है। इस जन्म में तो ऐसे वच्चों को पाप का भागी माना नहीं जा सकता। तब यदि पाप का दण्ड ही मृत्यु है तो निश्चय ही उनके वे पूर्व जन्म के पाप होंगे जिनका दण्ड उन्हें इस समय जन्म में मिला है। इस प्रकार कर्मयोनि में होता हुआ भी वालक भोगयोनि में है। ५ वर्ष का बालक चोरी के अपराध में जेल नहीं भेजा जायेगा, १२ वर्ष का विशेष प्रकार की जेल (Borstal Jail or Reformatory School) में भेजा जायेगा। १६ वर्ष का होने पर जेल भेजा जायेगा, किन्तु पागल सिद्ध होने पर हत्या का अपराधी होने पर भी छोड़ दिया जायेगा या कम से कम प्राणदण्ड तो नहीं पायेगा। ५ वर्ष का बालक भी चोरी करने पर जेल नहीं भेजा जायेगा, किन्तु अपने साथी की पुस्तक चुराने पर पीटा अवश्य जायेगा। इस प्रकार जीवात्मा 'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुम्'—करने, न करने या उल्टा करने की स्वतन्त्रता के साथ-साथ अपने बौद्धिक स्तर के अनुसार ही अपने कर्मों के लिए उत्तर-दायी है।

---

१. यदा मातृतो जायते कुमारः न तदा कर्मभिरधिक्रियते।

—न्या० दर्शन ४-१-६०

२. The wages of sin is death.

श्री अरविन्द घोष ने एक स्थान पर लिखा है—"अपने आपको परमात्मा का साधनमात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आँधी में उड़ते पत्ते, काटनेवाली तलवार या अपने लक्ष्य की ओर जाते तीर के समान है। तलवार यह निर्णय नहीं करती कि उसे किसको काटना है और न तीर ही अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है।"[1] यदि श्री अरविन्द की बात ठीक हो तो मनुष्य का सारा दायित्व ही समाप्त हो जायेगा। फिर तो संसार में भला-बुरा जो कुछ भी हो रहा है उस सबके लिए परमेश्वर ही उत्तरदायी होगा। सारी न्यायव्यवस्था ही चौपट हो जायेगी, अतः यह यथार्थ के विपरीत है। जीवात्मा परमात्मा के हाथ का खिलौना नहीं है। वह इच्छा, सुख-दुःख, राग-द्वेष और प्रयत्न आदि गुणों से युक्त चेतनतत्त्व है, अतः उसकी स्वतन्त्र सत्ता है और स्वतन्त्र कर्त्ता होने के कारण अपने कर्मों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधात्मक वाक्य जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया कि संसारी जीवात्मा फलप्राप्ति के लिए कर्मों का कर्त्ता है।[2] प्रश्नोपनिषद् में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—यह जीवात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, कर्त्ता आदि है।[3] आत्मा स्वयं कर्त्ता न होता तो वह भोक्ता भी न होता। तब उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध व्यर्थ होता। निहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीवात्मा स्वतन्त्र है।

---

१. Learn thou to be the instrument of God. Let thyself be as a leaf in the tempest: as a sword that strikes and the arrow that leaps to its target. The sword does not chose where it shall strike, the arrow does not ask whither it shall be driven.

—Essay on the Superman

२. गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।

—श्वेत० ५।७

३. एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

—प्रश्न० ४।९

कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर यदि जीवात्मा की अधीनता में रहकर सब काम उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार करने पर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा होगा, जीवात्मा नहीं। किसी की हत्या हो जाने पर हत्या करनेवाले व्यक्ति को दण्ड मिलता है, हत्या में साधनभूत तलवार या बन्दूक को नहीं। शासन के आदेश से फाँसी देनेवाले जल्लाद को हत्या का अपराधी नहीं माना जाता। 'परमात्मा किसी मनुष्य को जैसा आदेश देता है वैसा उसे करना पड़ता है'[1] के सिद्धान्त को यदि सार्वभौम नियम के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तो कभी किसी को दण्ड न मिले। यदि यह मान लिया जाये कि अपराध करने या न करने में मनुष्य तलवार या तीर की तरह पराधीन है और उसे वही करना पड़ता है जो परमात्मा उससे करवाता है तो अपराधी न्यायालय में जाकर रामचरितमानस से—

राम कीन्ह चाहहिं सो होई। करत अन्यथा अस नहीं कोई॥
जेहि जब रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छन होइ।
जाको प्रभु दारुण दुःख देहीं। ताकी मति पहले हर लेहीं॥

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें, किन्तु कोई भी इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा—नित्यप्रति अत्यन्त श्रद्धापूर्वक रामचरितमानस का पाठ करनेवाला न्यायाधीश भी।

इस विषय में श्री अरविन्द के विरुद्ध डा० राधाकृष्ण के विचार कहीं अधिक युक्तियुक्त एवं तर्कसंगत हैं। वे लिखते हैं—"जब लोग शैतान के काम कर रहे हों और ईश्वरीय इच्छा एवं व्यवस्था के नाम पर सब-कुछ ईश्वर के मत्थे मढ़ रहे हों तब कर्म-सिद्धान्त परमात्मा को संवैधानिक शासक के रूप में प्रतिष्ठित कर नैतिकता के महत्त्व पर बल देता है। कर्म कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं, आध्यात्मिक आवश्यकता है। परमात्मा कर्मों का

---

१. केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

—पञ्चदशी

प्रेक्षक—कर्माध्यक्ष है।"[1]

जब कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है तो फिर उसे कर्म करने की प्रेरणा किसलिए ? पानी नीचे की ओर तो स्वयं वह जाता है, किन्तु ऊपर चढ़ाने के लिए उपाय और पुरुषार्थ करना पड़ता है। मनुष्य क्षणभर भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। यदि स्वेच्छा से सत्कर्म नहीं करेगा तो स्वभाव से प्रेरित होकर दुष्कर्म में प्रवृत्त होगा। मनुष्य सत्कर्म–निष्काम कर्म में प्रवृत्त रहे, उसकी वृत्ति ऊपर की ओर रहे, इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने-आपको स्वेच्छा से कर्त्तव्य कर्मों में लगाये रक्खे। इसी उद्देश्य से 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' का निर्देश आवश्यक है।

सौ वर्ष जिओ—प्रभु का दूसरा आदेश है कि सौ वर्ष (शतं समाः) जीने की इच्छा करो (जिजीविषेत्)। जीते तो सभी हैं, किन्तु इच्छापूर्वक जीने में जो आनन्द है वह अन्यथा नहीं। 'हरिहर हरिहर हरिहर हरी, मेरी वेर क्यों देर इतनी करी' की रट लगाते हुए जीने में आनन्द कहाँ ? 'त्वयि' अनुरोध से यहाँ 'जिजीविषेः' प्रयोग होना चाहिए, परन्तु 'व्यत्ययो वहुलम्' सूत्र के वल से 'छान्दसत्वात्' पुरुष व्यत्यय हो गया है। 'जिजीविषेत्' विधि-लिङ् की क्रिया है और साथ ही 'सन्नन्त' भी। विधिलिङ् और सन्नन्त के स्वरूप का ज्ञान हुए विना इस शब्द का महत्त्व तथा सौन्दर्य समझ में आना कठिन है। यहाँ लिङ्लकार विधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् जव किसी को आदेश दिया जाता है कि उसे अमुक काम करना ही चाहिए तो लिङ्लकार का प्रयोग किया जाता है और जहाँ आदेश के साथ-साथ इच्छा का भी मेल करना हो वहाँ क्रिया की धातु में 'सन्' जोड़ देते हैं। इस प्रकार 'जिजीविषेत्' विधिलिङ् भी है और सन्नन्त भी, अर्थात् प्रभु मनुष्य को

---

१. At a time when people were doing devil's work under divine sanction and consoling themselves by attributing everything to God's will, the principle of karma insisted on the primacy of the ethical and identified God with the rule of law. Karma is not a mechanical principle, but a spiritual necessity. God is its supervisor—Karmadhyaksha. Hindu View of Life. P. 52.

इच्छापूर्वक जीने का आदेश दे रहे हैं। पर जीने की इच्छा किसलिए? उपनिषद् का उत्तर है—'कर्माणि कुर्वन् एव' कर्म करने के लिए। बिना कर्म के जीने की इच्छा करने का कोई लाभ नहीं। 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'—परमात्मा ने काम करने के लिए ही हाथ दिये हैं। प्रभु ने हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव में कुछ ऐसी प्रेरणा दी है कि जिससे निरन्तर कर्म करने में ही उनकी सार्थकता सिद्ध होती है। आँख देखने का, कान सुनने का, बुद्धि सोचने का, पैर चलने का, जिह्वा बोलने का काम न करें तो इनका होना सर्वथा व्यर्थ है। इसलिए कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए।

मनुष्य को जन्म के समय प्रकृति की देन के रूप में जो शरीर मिला है, यदि वह रोग, चिन्ता या आकस्मिक दुर्घटना का शिकार न हो जाये तो उसकी साधारण अवधि सौ वर्ष मानी जाती है,[1] परन्तु वेद ने सौ से भी अधिक वर्षों तक जीने की प्रेरणा की है।[2] जो सौ वर्ष से अधिक जीता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है।[3] यहाँ सौ या सहस्र वर्ष उपलक्षण मात्र है। तात्पर्य अधिक-से-अधिक काल तक जीने का प्रयास करने तथा आयुपर्यन्त कर्म करते रहने से है।

सामान्यतः आजकल भिन्न-भिन्न देशों में मनुष्यों की औसत आयु २०–२५ से लेकर ६०–६५ वर्षों तक है। वेद तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य को कम-से-कम सौ वर्ष तक जीने की प्रेरणा की गई है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि सौ वर्ष की आयु पाना कोई अनहोनी बात नहीं है। मिश्र देश में मूसा के समय मनुष्य की औसत आयु ७० वर्ष मानी जाती थी। परन्तु भारत में यह औसत ७० से कहीं अधिक थी। वात्स्यायन ने तो ७० वर्ष तक यौवन की अवधि मानी है।[4] ७० के बाद बुढ़ापा शुरू होता था। विदेशी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त के अनुसार १३०० ईसवी तक हमारे

---

१. शतायुर्वै पुरुषः।
२. भूयश्च शरदः शतात् (यजुः० ३६।२४), भूयसीः शरदः शतम् (अथर्व० १९।६७।८), सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् (अथर्व० १७।१।२०)।
३. यो वै शतादूर्ध्वं जीवति स अमृतत्वमश्नुते।—शतपथ
४. आषोडशात् सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्।

देश में कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग थे जिनकी औसत आयु १५० वर्ष से ऊपर होती थी। मार्कोपोलो ने, जो इस देश में १२८० ईसवी में आया और जिसने अपनी यात्रा का विवरण १३०० ईसवी में लिखा, इस विषय में लिखा है—
"सब ब्राह्मण पश्चिम प्रदेश के हैं। वे सभी व्यापारी हैं और सत्यनिष्ठ हैं। वे न मांस खाते हैं और न मदिरा-पान करते हैं। अत्यन्त पवित्र जीवन विताते हैं। वे अपने कन्धों पर पीठ और छाती से गुजरता हुआ सूती धागा (यज्ञोपवीत) पहनते हैं। मादक द्रव्यों से दूर रहने के कारण वे दीर्घजीवी हैं। एक बूटी विशेष के चबाने के कारण उनके दाँत बहुत पक्के हैं। ब्राह्मणों की एक जाति जोगी कहाती है जो और भी अधिक दीर्घजीवी है। वे १५० से २०० वर्ष तक जीते हैं। वे केवल दूध और चावल का भोजन करते हैं। वे दिन में दो बार गन्धक और पारे का प्रयोग करते हैं जो उनके दीर्घजीवी होने में सहायक हैं। वे कई-कई दिन तक उपवास करते हैं और जल के सिवा कुछ नहीं पीते हैं। वे धरती पर सोते हैं, फिर भी लम्बी आयु भोगते हैं।[1]

परन्तु उपनिषद् ने मरते-मरते सौ वर्ष तक जीने का निर्देश नहीं किया है। खाट पर पड़े-पड़े सौ वर्ष जीने की अपेक्षा स्वस्थ रहकर ५० जीना कहीं

---

१. All Brahmanas come from that country on the west. They are best merchants and most truthful. They eat no flesh and drink no wine and lead a life of chastity. They wear a thread of cotton on the shoulders which crosses the breast and the back. They are long lived and have capital teeth owing to a certain herb they chew. There are other Brahmanas called 'jogi' who are longer lived. They live upto 150 or even 200 years. They eat rice and milk only. They drink a potion of sulphur and quick silver twice a day which leads to longevity. They fast many days and drink nothing but water. They sleep on the ground and yet they live long. (History of Mediaeval Hindu India by C. V. Vaidya, Vol. III, P. 383).

अच्छा है। देर तक सुलगते रहने से क्षणभर के लिए प्रज्वलित हो अपना प्रकाश देकर बुझ जाना अच्छा है।[1] जब रोग से शरीर गल जाता है, बुढ़ापे के कारण सिर के बाल पक जाते हैं, मुँह में दाँत नहीं रहते और मनुष्य लाठी के सहारे के बिना चल नहीं सकता तब भी मनुष्य की जीने की इच्छा बनी रहती है।[2] इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों अंग शिथिल होते जाते हैं त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ती जाती है।[3] इस रूप में सौ वर्ष तक जीने के लिए उपनिषद् नहीं कहती। सौ वर्ष तक जीने का अर्थ है सौ वर्ष तक देखते, सुनते, बोलते और चलते-फिरते हुए जीना।[4] यह देखना-सुनना भी कैसा हो, यजुर्वेद में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि हम कानों से सदा अच्छी (भद्र = कल्याण-कारी) बातें सुनें, आँखों से सदा भद्र देखें और स्वस्थ अवयवों से युक्त शरीर से देवों के लिए हितकर आयु व्यतीत करें।[5] हितायु का लक्षण करते हुए चरकसंहिता में लिखा है—"जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों पर हित करता है, पराये धन का जिसे लोभ नहीं, जो सत्यवादी और शान्तिपरायण है, परीक्षा करके काम करनेवाला है, अप्रमत्त, धर्म, अर्थ और काम, तीनों वर्गों को परस्पर अनुपहत क्रम से भोगता है, पूजा के योग्यों को अच्छी तरह पूजता है, जो ज्ञान-विज्ञान और शान्तिशील है, जो वृद्धों की सेवा करता है, जिसने राग, द्वेष, ईर्ष्या, मद, मान के वेगों को अच्छी तरह जीत रक्खा है, जो निरन्तर अनेक प्रकार का दान करता है, जो नित्यप्रति तपश्चर्या, ज्ञान और शान्ति में लीन है, जो अध्यात्मवेत्ता और अध्यात्मज्ञान में तत्पर है,

---

१. मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।—महाभारत

२. अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातन्तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चति आशा पिण्डम्॥

३. अङ्गानि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते।

४. जीवेम शरदः शतं शृणुयाम् शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।—यजुः० ३६।२४

५. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
—यजुः० २५।२१

जो इस लोक और परलोक दोनों में सुख चाहता है, जो स्मृतिमान् है, ऐसे पुरुष की आयु को हितायु करते हैं।"[1]

स्वस्थ रहते हुए जीना ही जीना है। स्वस्थ का अर्थ है अपने आपमें (स्व) ठहरा हुआ (स्थ)। 'स्व' आत्मतत्त्व है। इसलिए स्वस्थ का अर्थ हुआ आत्मतत्त्व में स्थित होना। आत्मतत्त्व में स्थित होने का तात्पर्य है आत्मत्त्व से भिन्न शरीरतत्त्व में स्थित न होना। निषेधात्मक 'अ' से अस्वस्थ का अर्थ हुआ आत्मतत्त्व से भिन्न शरीर तत्त्व में स्थित होना। जव मनुष्य पूर्ण स्वस्थ होता है तो शरीर को भूला-सा रहता है। जव अस्वस्थ होता है तो उसे हर समय शरीर या उसके रुग्ण अंग का ही ध्यान वना रहता है। दाँत में दर्द हो तो हर समय दाँत में जान पड़ी रहती है; पेट में दर्द हो तो पेट की ही याद आती रहती है; अंगुली कट जाये तो उसी का खयाल वना रहता है। शरीर के जिस किसी अंग में रोग होगा उसी पर ध्यान केन्द्रित रहेगा, अतः शरीर को भूले रहकर अपने स्वरूप में—आत्मतत्त्व में स्थिर रहना ही स्वस्थ रहने की पहचान है। कार्यालय में सभी कर्मचारी अपना-अपना काम करते रहें, अधिकारी को किसी से शिकायत न हो, किसी को कुछ कहना-सुनना न पड़े—यही आदर्श व्यवस्था होती है। सवसे अच्छा शासन वही होता है जिसमें कम-से-कम शासन किया जाता है।[2] शरीर के सभी अवयव ठीक-कीक कार्य करते रहें—कभी किसी ओर ध्यान ही न जाये उसी में जीवन की सार्थकता है।

सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपनी आयु को न्यूनाधिक करना मनुष्य के अपने अधिकार में है। यदि ऐसा न हो

---

१. हितैषिणः पुनर्भूतानाम्परस्वादुपरतस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसम्पूजकस्य ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियतरागद्वेषेर्ष्यामदमानवेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्य अध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमञ्चामुञ्चापेक्ष्यमाणस्य स्मृतिमतो हितमायुरुच्यते। —चरकसंहिता सूत्रस्थान, अध्याय ३०,

२. That government is best which governs the least.

अर्थात् आयु के काल का प्रमाण नियत हो तो उसकी इच्छा करना और इच्छा की पूर्ति के निमित्त प्रयास करना व्यर्थ है। जो निश्चित है वह होकर रहेगा—उसे कोई मिटा नहीं सकता।[1] और यदि आयु के काल का प्रमाण नियत नहीं है तो काल मृत्यु और अकालमृत्यु का क्या अर्थ होगा ? महर्षि चरक ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। अन्तिम निष्कर्ष के रूप में वहाँ लिखा है—"जैसे रथ में लगा हुआ धुरा प्रकृत अक्षगुणों से युक्त और सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समय पाकर अपने प्रमाण की क्षीणता अर्थात् घिसने से अन्त को प्राप्त हो जाता है वैसे ही शरीर की आयु भी प्रकृति के अनुसार उपचार्यमाण किये जाने पर भी अपने प्रमाण के क्षीण होने से अवसान को प्राप्त हो जाती है। यही मृत्यु कालमृत्यु कहाती है। और जैसे वही धुरा अत्यधिक बोझ लादने से, ऊँचे-नीचे मार्ग में चलने से, चक्रमण्डल के टूटने से, वाह्यवाहक के दोष से, अनिर्मोक्षण से, पर्यसन से अथवा और अवयवों के टूटने से कुसमय भंग हो जाता है; वैसे ही आयु भी बल से अधिक काम करने से, जठराग्नि के बल से अधिक भोजन करने से, विषम भोजन करने से, अत्यधिक मैथुन करने से, दुष्टव्यवहार करने से, उपस्थित वेगों के रोकने से, धारणीय वेगों के धारण न करने से, भूतविष-अग्नि के उपताप से, चोट लगने से, सर्वथा भोजन न करने से बीच में ही विपत्ति आ जाती है। यही अकालमृत्यु है।[2]

१. यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः ?

२. यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत् तथायुः शरीरोपगतं बलवत् प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति। स मृत्युः काले। यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षात् पर्य्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते तथा आयुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत् संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहात्। विधार्यवेगाविधारणाद्भूतविषाग्न्युपतापादभिघातादाहारविवर्जनाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते। स मृत्युरकाले।

—चरकसंहिता, विमानस्थान, अध्याय ३

काल-अकाल मृत्यु का विषय सदा से विवादास्पद रहा है। आज तक भी इसका निर्णय नहीं हो पाया, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से महर्षि चरक का निर्णय सर्वथा उपादेय है। एतद् द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मनुष्य के लिए पूरी तरह कल्याणकारी है।

कर्म में अलिप्त—यह ठीक है कि मनुष्य जब तक जिये कर्म करता हुआ जिये। किन्तु देर तक जीने की इच्छा किस काम की ! जितना अधिक वह जियेगा उतने ही अधिक कर्म करेगा और जितने अधिक कर्म करेगा उतना ही अधिक उनका फल भोगने के लिए बारम्बार शरीर धारण करना पड़ेगा, परन्तु उपनिषद् कहती है कि 'नरे' नर में 'कर्म न लिप्यते' कर्म लिप्त नहीं होता, 'नर' वह है जो न 'रमते'—कर्म करते हुए भी उनमें उलझता नहीं।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—सकाम और निष्काम। कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर और फल की इच्छा का परित्याग करके जो कर्म किये जाते हैं वे निष्काम कर्म कहाते हैं। सकाम कर्म करने से वह वासना उत्पन्न होती है जो बार-बार उसी कर्म के करने की प्रेरणा करती रहती है। योगदर्शन का भाष्य करते हुए व्यासमुनि ने संसार-चक्र की बात कही है। यह चक्र छह अरोंवाला है। मनुष्य इच्छा करता है, उसका फल सुख उसे मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है, वह फिर उसी प्रकार की इच्छा करता है, उससे फिर वही सुख और फिर वही वासना और फिर वही इच्छा। इस प्रकार (१) इच्छा (२) उसका फल सुख और (३) सुख की वासना ये तीन अरे हैं जो निरन्तर घूमते रहते हैं। इसी प्रकार शेष ३ अरे हैं—(१) द्वेष (२) उसका फल दुःख और (३) दुःख की वासना। ये तीनों भी पहले ३ अरों की भाँति घूमते रहते हैं। यही ६ अरोंवाला संसारचक्र है जो संसारी पुरुषों को चक्कर में डाले रहता है।[1] इसी चक्र में रहने का नाम कर्म

---

१. धर्मात् सुखमधर्माद् दुःखं सुखाद्रागो दुःखाद् द्वेषस्ततश्च प्रयत्नः, तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा, ततः पुनः धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषौ इति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्।
—योगदर्शन ४।११, व्यासभाष्य

में मनुष्य का या मनुष्य में कर्म का लिप्त होना है। राग तथा द्वेष से प्राणी पुण्य तथा अपुण्य करते हैं। राग से सुख के लिए पुण्य भी करते हैं और पर-पीड़न आदि अपुण्य भी। इसी प्रकार द्वेष से भी दुःख निवृत्ति के लिए पुण्य और अपुण्य करते हैं। पुण्य से अधिकतर सुख और स्वल्प दुःख पाते हैं, अपुण्य से अधिकतर दुःख और स्वल्प सुख पाते हैं। सुख से सुखकर विषय में राग और सुख के विरोधी विषय में द्वेष होता है। इसी प्रकार दुःख से दुःखकर विपय में द्वेष और दुःख के विरोधी विषय में राग होता है। इन सभी के मूल में अविद्या या अज्ञानरूप मोह रहता है। इसी प्रकार संसृति चक्राकार में आवर्त्तित हो रही है। इस चक्र से निकलने का एकमात्र उपाय निष्काम कर्म के द्वारा वासनाओं का नाश करना है। निष्काम कर्म से चक्र के अरे निकम्मे होकर टूट जाते हैं और उनमें फँसा मनुष्य बाहर निकल आता है।

जब कर्म करना हमारी प्रकृति में निहित है—हम चाहें, न चाहें, कर्म के बिना हम रह ही नहीं सकते तो उसे प्रभावहीन कर देना ही बुद्धिमत्ता है। जब कर्मरूपी बिच्छू मर नहीं सकता तब क्यों न ऐसा उपाय किया जाये कि वह विपरहित हो जाये। कर्म तो हो जाये परन्तु उससे होनेवाले बन्धन से हम छूट जाएँ। साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना—फल की आकांक्षा न करते हुए कर्म में प्रवृत्त रहना ही इसका एकमात्र उपाय है। संसार के भोक्ता बनकर रहें, भोग्य बनकर नहीं। अथर्ववेद में प्रश्न किया है—'तू ओदन का भोग करता है या ओदन तेरा भोग करता है?'[1] जीव का उत्तर है—"न मैं ओदन का भोग करता हूँ, न ओदन मेरा भोग करता है, अपितु ओदन ही ओदन का भोग करता है।"[2] ओदन का अर्थ है चिपकनेवाला। सांसारिक पदार्थ ओदन कहाते हैं, क्योंकि वे मनुष्य से चिपकते हैं। संसार के पदार्थों का आकर्षण मनुष्य को बाँधता है। 'विषय' शब्द 'सिञ् बन्धने' धातु से 'वि'

---

१. त्वमोदनं प्राशीस्त्वामोदनः। —अथर्व० ११।३।८७

२. नैवाहमोदनं न मामोदनः, ओदन एवौदनं प्राशीत्।

—अथर्व० ११।३।३०, ३१

उपसर्ग लगकर निष्पन्न होता है। विषय मनुष्य को विशेष रूप से बाँधते हैं, इसलिए उनकी संज्ञा विषय है। जो मनुष्य विरत होकर संसार के पदार्थों का भोग करता है, न वह स्वयं भोगों से चिपकता है और न भोग उससे चिपकते हैं। यही भोग का भोग को चिपकना या ओदन का ओदन को खाना है। जब अग्नि को खाने को और कुछ नहीं मिलता तो अग्नि, अग्नि को खा जाती है।

कर्म अपने आप में जड़ हैं। न वे किसी को बाँध सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। इसलिए यदि मैं कर्मों को नहीं चिपटूंगा तो कर्म मुझे कभी नहीं चिपट सकेंगे। कर्म में लिपटना कर्मभूमि में जकड़े रहना है। जो आयुभर कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहता है कर्त्तव्य उसे कर्मभूमि से स्वतन्त्र कर देते हैं। मनुष्य फलाशा अथवा आसक्ति से ही कर्मों में बँधता है। विरति—वैराग्य बन्धन से बचाता है। विरत होकर कर्त्तव्य कर्म करनेवाला उनमें लिप्त नहीं होता। ऐसा व्यक्ति सब-कुछ करता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता।[1] तब उसके कर्म में लिप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पितृ-ऋण से अनऋण होने की भावना से सन्तान का पालन पोषण करना, परोपकार की भावना से रोगी की चिकित्सा करना आदि 'नर' बनना—कर्म करते हुए भी उनमें न रमना या न उलझना है। ऐसा व्यक्ति न ममत्व के कारण मोह करता है और न कभी दुःखी होता है। यही अनासक्ति से कर्म करना है।

गीता में संन्यासी या योगी का लक्षण करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति कर्मफल का आश्रय न करके (मन में फलाशा को न बसाकर) शास्त्रानुसार अपने विहित कर्म करता है वही संन्यासी और वही कर्मयोगी है।[2] इस बुद्धि से कर्म करनेवाला बन्धन में नहीं पड़ता। आसक्ति से दूर रहनेवाला तो मुक्त ही है। इसी अर्थ को मन में लाकर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा था कि कर्ममय संसार के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य सब प्रकार के कर्त्तव्य कर्म

---

१. कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।— गीता ४।२०

२. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥—गीता ६।१

करता हुआ भी अलिप्त रहता है।[1] निष्काम कर्म की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—

"हमारा अधिकार कर्म करने तक सीमित है। फल प्राप्त करना हमारे अधिकार क्षेत्र से परे है। जब फल पर हमारा अधिकार ही नहीं तो उसमें आसक्ति क्यों? फलाशा को त्यागकर कर्म करते रहने पर, आगे कुछ कारणों से कदाचित् कर्म निष्फल रह जाये तो, निष्फलता का दुःख मानने के लिए कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि हम तो अपने अधिकार का काम कर चुके। उदाहरणार्थ—वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार हज़ारों रोगियों को दवाई देता है। इस प्रकार निष्काम बुद्धि से काम करने पर यदि कोई रोगी चंगा न हो तो उससे वह वैद्य उद्विग्न नहीं होता, बल्कि शान्त चित्त से यह शास्त्रीय नियम ढूँढ़ निकालता है कि अमुक रोग में अमुक ओषधि से इतने रोगियों को आराम होता है, इतनों को नहीं, परन्तु जब इसी वैद्य का लड़का बीमार होता है तब ओषधि देते समय उसे यह प्रतिशतवाली बात भूल जाती है और ममतायुक्त फलाशा से उसका चित्त घबड़ा जाता है कि मेरा लड़का अवश्य अच्छा हो जाये। इस छोटे-से उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि कर्मफल में ममतारूप आसक्ति किसे कहते हैं और फलाशा न रहने पर निरी कर्त्तव्यबुद्धि से कोई काम कैसे किया जाता है।"[2]

जो लोग जीवन को यज्ञमय बना लेते हैं वे अपने आप निष्काम कर्म करने लगते हैं। इसके विपरीत यज्ञ की भावना के बिना किया गया कर्म बन्धन का हेतु बन जाता है।[3] जब यजमान 'इदमग्नये' आदि के साथ-साथ 'इदन्नमम' की भावना को जोड़ देता है तो आहुतिरूप में अपना अंशदान करते हुए भी उसे अपना कहकर नहीं देता, अपितु—

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपतें क्या लागत है मोर॥

---

१. प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥—अध्यात्मरामायण २।४।४२
२. गीतारहस्य पृष्ठ ३२७
३. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मबन्धनः।—गीता ३।९

निरभिमानता और आत्मसमर्पण की यह पराकाष्ठा है। यज्ञ की आधारभूत भावना यही है। यही भावना जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुप्राणित हो जाती है तो सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय हो जाता है।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से होता है, फल का भविष्यत् से। वर्त्तमान से भविष्यत् तक पहुँचने में कितना भी समय लग सकता है, कितने ही तत्त्व बीच में आ सकते हैं, परिस्थितियों में कितना ही परिवर्त्तन आ सकता है। अंगरेजी में एक प्रसिद्ध कहावत है कि प्याले के होठों तक पहुँचने से पहले कई बार फिसलने का भय रहता है।[1] इसलिए भविष्य में होनेवाले फल के लिए आशा बाँध लेना युक्तिसंगत न होने से दुःख का कारण हो सकता है। किसान खून-पसीना एक करके खेती करता है, किन्तु जब फसल पककर तैयार हो जाती है, तभी टिड्डी दल आकर देखते-देखते लहलहाती फसल चौपट कर जाता है, या बाढ़ बहाकर ले-जाती है, या ओलों की वर्षा ज़मीन पर बिछा देती है। किसान की सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है। विद्यार्थी दिन-रात मेहनत करके परीक्षा की तैयारी करता है। उसे विश्वविद्यालयभर में अपने प्रथम आने का पूर्ण विश्वास है, परन्तु परीक्षावाले दिन दुर्घटना ग्रस्त हो जाता है अथवा परीक्षा में ४ दिन पहले भयंकर रूप से बीमार पड़ जाता है। बेचारा मन मारकर रह जाता है। हमारा अफसर हमारे काम से सन्तुष्ट है। आगामी १ अप्रैल से अगला ग्रेड दिलाने का आश्वासन देता है। हम फूले नहीं समाते। हमें उसकी ईमानदारी और सामर्थ्य पर पूरा भरोसा है। निकट भविष्य में बढ़नेवाली आय के अनुरूप योजनाएँ बनाने लगते हैं। यहाँ तक कि, उस आश्वासन की विश्वसनीयता के बल पर, नये बजट के बाद मूल्यों में वृद्धि की आशंका से, कहीं से ऋण लेकर विशेष सुख-सुविधाओं को जुटाने में अतिरिक्त व्यय कर डालते हैं। परन्तु ३० मार्च की रात्रि को अचानक हृदयगति रुक जाने से उस अफसर की मृत्यु हो जाती है, या सरकार बदल जाती है या रातों रात पड़ौसी देश आक्रमण कर बैठता है, या ऐसी ही कोई अन्य बाधा उपस्थित हो जाती है। परिणामतः हम सिर पीटकर रह जाते हैं। यह है फल में आसक्ति का परिणाम।

---

१. There is many a slip between the cup and the lip.

यही बात साधन और साध्य की पवित्रता के सन्दर्भ में ठीक उतरती है। हम अपनी कमाई में से धन लगाकर एक मन्दिर या धर्मशाला बनवाना चाहते हैं। हमारा साध्य का लक्ष्य श्लाघ्य है—सर्वथा पवित्र है, परन्तु धन कमाने में हम अनुचित साधनों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते। कमाई के समय उचित या अनुचित साधनों को अपनाने में हम पूरी तरह स्वतन्त्र हैं, परन्तु उस धन का उपयोग भविष्य का विषय है। धन हाथ में आ जाने पर वह निश्चित रूप से मन्दिर या धर्मशाला के निर्माणार्थ ही व्यय होगा—यह गारण्टी कौन दे सकता है? अकस्मात् हमारी मृत्यु हो सकती है, नियत बदल सकती है वा अन्य कोई बाधा आ सकती है। पापसे बचना हमारे हाथ में था, वह हम कर बैठे। भविष्य की कौन जाने—कल क्या हो जाये?

भौतिक जगत् में जिसे कार्य-कारण (Cause and effect या action and reaction) कहते हैं आध्यात्मिक क्षेत्र में उसी को कर्मसिद्धान्त के नाम से अभिहित किया जाता है। अनिवार्यता कार्य-कारण का अटल नियम है। कर्म कारण है, फल उसका कार्य है। कर्म क्रिया है तो उसके फल से बचा नहीं जा सकता। जब तक किसी कर्म का फल मिल नहीं जाता तब तक वह कर्त्ता के खाते में दर्ज रहता है। फल मिल चुकने पर पर ही वहाँ से कट सकता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए डा० राधाकृष्णन ने लिखा है—"हम कारण को कार्यरूप से परिणत होने से रोक नहीं सकते। संसार की व्यवस्था में मनमाना हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कर्म—प्रत्येक विचार को न्याय की परोक्ष किन्तु सार्वभौम तुला में तोला जाता है। न्यायव्यवस्था से कोई बच नहीं सकता। ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।"[१]

---

१. We cannot prevent the cause from producing its effect. Any arbitrary interference with the order of the world is not permitted. Every act, every thought is weighed in the invisible balance scales of justice. None can escape the day of judgement which is not in some remote future, but here and now. Divine laws cannot be evad.d. —Hindu View of Life, p. ५३

फलोपभोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। जब एक बार बाण छूट जाता है तब वह लौटकर नहीं आता। अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही शान्त होता है। ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व अज्ञानाऽवस्था में भी जिन कर्मों को मनुष्य कर डालता है उनका फल ज्ञान प्राप्ति के बाद उसे न मिले ऐसा नहीं हो सकता। जिस प्रकार व्याघ्र समझकर छोड़ा गया बाण, बाद में यह मालूम हो जाने पर भी कि वह व्याघ्र नहीं, गौ है, अपने लक्ष्य को मार ही डालता है उसी प्रकार जाने-अनजाने किये हुए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है।[1] महाभारत में कहा है कि शुभ हो या अशुभ हो, किये हुए कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी बिना भोगे उनका क्षय नहीं होगा।[2] किंचिद् भिन्न शब्दों में यही बात देवी भागवत में दुहराई गई है।[3] कर्मफल को निश्चित करना ईश्वर का काम है और उसका निश्चय सर्वथा कर्मों के अनुसार होता है। यदि मनुष्यों में भले-बुरे का भेद होता है तो इसके लिए ईश्वर वैषम्य (विषम बुद्धि) और नैर्घृण्य (निर्दयता) के दोषों का पात्र नहीं होता। ऐसे विवेकी, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायाधीश के निर्णय को बदलने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है?[4] जल्दी मिले या देर से मिले, नियत फल मिले बिना नहीं रह सकता। जब ब्रह्म का दिन समाप्त होने पर सृष्टि की प्रलय होती है तो अभुक्त कर्म बीजरूप में बने रहते हैं। जब फिर नये सिरे से सृष्टि रचना होती है तो उसी कर्मबीज (संस्कार) से अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारत का कथन है कि पूर्वसृष्टि में जिस-जिस प्राणी ने जो कर्म किये होंगे, फिर वे ही कर्म उसे बार-बार

---

१. ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति,
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्।
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ,
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥

२. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

३. अवश्यमेव भोक्तव्यं कालेनोपार्जितं च यत्।
शुभं वाप्यशुभं वापि दैवं कोऽतिक्रमेत्पुनः॥

४. यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः।

यथापूर्व प्राप्त होते रहेंगे ।[1] जब अभुक्त कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इसी जन्म में किये पापों से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव हो सकता है ?

स्वार्थी लोगों ने कुछ ऐसे वचन भी गढ़कर प्रचारित कर रक्खे हैं जिससे कर्मफल से बचने का मार्ग मिल जाता प्रतीत होता है। जैसे-गंगा को देखने मात्र से सौ जन्मों के, जलपान करने से तीन सौ जन्मों के और स्नान करने से हज़ारों जन्मों के पाप दूर हो जाते हैं ।[2] गंगा को देखने, उसका जलपान करने तथा उसमें स्नान करने के लिए तो वहाँ तक जाना होगा जहाँ गंगा बहती हो। यह श्रमसाध्य भी है और व्ययसाध्य भी । इस कठिनाई को दूर करने के लिए अन्यत्र कहा गया कि सैकड़ों मील दूर बैठा हुआ मनुष्य भी मात्र 'गंगा' शब्द का उच्चारण करने से ही सब पापों से छूट जाता है ।[3] इतना ही नहीं, जैसे एक देश में अपराध करनेवाला व्यक्ति वहाँ से भागकर किसी दूसरे देश में जाकर दण्ड से बच जाता है वैसे ही कहीं भी किया गया पाप काशी पहुँचने पर नष्ट हो जाता है ।[4]

यह कल्पना अत्यन्त मिथ्या व निराधार तथा मूलतः अवैदिक है। सामान्यतः मनुष्य दण्ड के भय से अपराध करने से डरते हैं। यदि यह विश्वास हो जाये कि अपराध करने पर भी पकड़े नहीं जायेंगे और पकड़े भी गये तो बिना दण्ड पाये छूट जायेंगे तो अधिसंख्य मनुष्य अपराधों के अभ्यस्त हो जाएँ। यदि 'गंगा' शब्द का मात्र उच्चारण करने अथवा उसके जल में स्नान करने, किसी पीर, पैग़म्बर पर ईमान लाने, तोबा करने, ब्राह्मणों को भोजन कराने या दान दक्षिणा देने आदि से पापों से छुटकारा मिल सके तो जो अपराध नहीं करते वे भी इस विश्वास के कारण दिन-

---

१. येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

२. दृष्ट्वा जन्मशतं पापं पीत्वा जन्म शतत्रयम् ।
स्नात्वा जन्मसहस्राणि गङ्गा हरति कलौ युगे ॥

३. गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

४. अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति ।

रात पापकर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। यदि कहीं भी किया पापकर्म काशी पहुँचने पर नष्ट हो जाता है तो लोग कहीं भी डाका डालकर या हत्या करके काशी का टिकट कटाकर निश्चिन्त हो जाएँ। ईसामसीह के अनुयायियों को तो पाप से डरने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वह बहुत पहले ही अपने भक्तों के पापों की गठरी सिर पर रखकर अपने साथ ले-गये। विश्व में शान्ति एवं व्यवस्था रखने के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी अवस्था में विना भोगे कर्म के क्षय न होने के सिद्धान्त को निरपवाद रूप में स्वीकार किया जाये।

एक व्यक्ति के कर्म दूसरे व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण नहीं बन सकते। जो कर्म एक मनुष्य करता है उसका संस्कार दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण में नहीं पड़ सकता और जब संस्कार ही नहीं तो उसके फल को भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने ही किये का फल भोगता है। यही ईश्वरीय विधान है। इसका व्यतिक्रम अराजकता को जन्म देगा। यदि अपराधी छूट जाये और निरपराध को दण्ड मिल जाये तो सारी कर्म परम्परा अस्तव्यस्त हो जाये। परमेश्वर 'कृतहानि' (जिसने किया है उसे फल न मिलना) और 'अकृताभ्यागम' (जिसने नहीं किया उसे दूसरे के परिश्रम का फल मिलना) का दोषी होगा। ईश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं हो सकता। इस विषय में वेद का स्पष्ट आदेश है कि मनुष्य स्वयं ही कर्म करे और स्वयं ही उसका फल भोगे।[1] अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा है कि पका हुआ (कृतकर्म) पकानेवाले (कर्त्ता) को ही प्राप्त होता है।[2] महाभारत में यही बात बड़े सुन्दर और रोचक शब्दों में कही गई है—"जैसे बछड़ा हजारों गौओं के बीच अपनी माँ को ढूँढ़ लेता है वैसे ही किया हुआ कर्म अपने करनेवाले को जा पकड़ता है।[3] गीता में

---

१. स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व महिमा तेन्येन न संनशे।—यजुः० २३।१५
२. पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति।—अथर्व० १२।३।४८
३. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥

—महा० शान्तिपर्व १५।५६

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहा कि प्रभु न किसी के पाप को अपने ऊपर लेता है और न पुण्य को।[1] इसलिए प्रत्येक मनुष्य को यह समझकर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए कि उसका फल मुझे—और केवल मुझे—मिलना है। किसी मृत व्यक्ति के नाम पर उसकी सन्तान द्वारा किया गया श्राद्ध कर्म मृत व्यक्ति की तृप्ति या मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरे के किये पापों को अपने सिर पर लेकर उसकी मुक्ति में सहायक नहीं हो सकता। नेपाल नरेश महेन्द्र के मरने पर एक ब्राह्मण ने उनके पाप ओट लिये। महाराजा स्वर्ग चले गये। इस काम के बदले उस ब्राह्मण को बहुत-सा धन, मोटर, हाथी, घोड़े दिये गये। एक वर्ष तक वह अछूत बनकर रहा फिर तीर्थ यात्रा करके पवित्र हो गया और आनन्दपूर्वक रहने लगा।[2] कोई समझदार व्यक्ति इसपर विश्वास नहीं करेगा। न्याय व्यवस्था यही है कि एक आत्मा के शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरी आत्मा को न मिलना चाहिए, न मिल सकता है।

अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारण प्रत्येक मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता है।[3] यह और बात है कि कोई शुभ कर्म अधिक और अशुभ कम तथा कोई अशुभ कर्म अधिक और शुभ कम करता है। पुण्य कर्मों के फलस्वरूप सुख और पाप कर्मों के फलस्वरूप दुःख मिलता है। दोनों प्रकार के कर्मों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। दोनों का पृथक्-पृथक् फल मिलता है। यदि एक जन्म में किसी ने १० शुभ और २ अशुभ कर्म किये हों तो २ अशुभ कर्म २ शुभ कर्मों से कटकर अगले जन्म में फल देने के लिए शेष ८ शुभ कर्म बचे रह जायें अथवा यदि किसी ने एक जन्म में १० अशुभ और २ शुभ कर्म किये हों तो २ शुभ कर्म २ अशुभ कर्मों से कटकर अगले जन्म में फल देने के लिए ८ अशुभ कर्म ही बचे रह जायें

---

१. नाऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।—गीता ५।१५

२. सारिका (मासिक पत्रिका)

३. Virtuous and vicious every man must be.
Few in the extreme but all in degree'
Alexander Pope—Essay on man.

—ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा होता तो वर्तमान में कोई मनुष्य पूर्णतः सुखी और कोई पूर्णतः दुःखी होना चाहिए था, परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सुख-दुःख का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वजन्म में किये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म इस जीवन में फलीभूत हो रहे हैं। चोरबाजारी, तस्करी या डाके से प्राप्त धन को परोपकार में लगा देने से किसी के पाप नहीं धुल सकते। दानवीर होने से कोई धर्मवीर नहीं बन सकता।

इस सन्दर्भ में महाभारत युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा एक बार असत्य भाषण का प्रसंग द्रष्टव्य है। यहाँ उसका केवल संकेत किया जाता है। जब यह निश्चय हो गया कि गुरु द्रोणाचार्य के हथियार डाले बिना युद्ध में पाण्डवों की विजय नहीं हो सकती और अपने पुत्र अश्वत्थामा में गुरुजी का अत्यधिक मोह होने के कारण उसके मर जाने पर वह तत्काल हथियार डाल देंगे तो पहले अश्वत्थामा को मारने का निर्णय किया गया, किन्तु अश्वत्थामा को मारना भी आसान नहीं था। तब श्रीकृष्ण के परामर्श से यह योजना बनाई गई कि सदा सत्य बोलनेवाले युधिष्ठिर से यदि गुरुजी के सामने अश्वत्थामा के मारे जाने की बात कहला दी जाये तो गुरुजी विश्वास कर लेंगे। युधिष्ठिर इस मिथ्या भाषण के लिए तैयार नहीं थे, किन्तु श्रीकृष्ण के अत्यधिक आग्रह करने पर, सार्वजनिक हित में, सत्या-सत्यमिश्रित वचन 'अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुञ्जरो वा' कहने के लिए तैयार हो गये। मरने पर युधिष्ठिर को स्वर्ग की प्राप्ति तो हुई, किन्तु इस एक बार के सत्यासत्यमिश्रित भाषण के दण्डस्वरूप उसे नरक के रास्ते से स्वर्ग ले-जाया गया। अंशतः औपचारिक रूप से वर्णित इस घटनाक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनभर सत्य बोलते रहनेवाले के एक बार के असत्य भाषण को और वह भी श्रीकृष्ण जैसे महान् नेता (कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार स्वयं साक्षात् भगवान्) के बार-बार आग्रह करने पर, क्षमा नहीं किया गया। फिर सामान्य जनों की तो बात ही क्या ?

शुद्ध मन से संकल्पपूर्वक किये गये पश्चात्ताप तथा प्रार्थना भविष्य में दुष्कर्म में प्रवृत्त होने से बचा सकते हैं, किन्तु इस कारण पूर्वकृत दुष्कर्मों के फलभोग से नहीं बचा जा सकता। हाँ, प्रायश्चित से यदि दुष्कर्मकर्त्ता

स्वयं शारीरिक या मानसिक दण्ड कुछ अंश में भोग लेता है तो उतने अंश में फल भोगने से बच जाता है। इसी प्रकार यदि किसी अपराधी को अपने दुष्कर्म का दण्ड राज्य व्यवस्था से मिल जाये तो परमात्मा उसे पुनः दण्ड नहीं देगा। हाँ, यदि न्यायाधीश के सर्वज्ञ, निष्पक्ष अथवा समर्थ न होने से उसमें न्यूनाधिक्य हो गया होगा तो ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुसार उसमें सुधार हो जायेगा।

कृतकर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता—अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करनेवाले अपने भक्तों के लिए शिथिल नहीं कर सकता। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में बलदेव ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।१।३६) में लिखा—"परमात्मा में आपाततः परस्पर विरोधी एवं रहस्यमयी शक्तियाँ निहित हैं। यह सम्भव है कि वह पूर्णतः न्यायकारी एवं निष्पक्ष हो और फिर भी अपने भक्तों के साथ विशेष रियायत या अनुग्रह का व्यवहार करे।[1] ऐसा होने पर परमात्मा खुशामदी चमचों से घिरे हुए लौकिक शासकों के समान होगा जिसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सबका वास होगा। इस प्रकार के कर्माध्यक्ष से न्याय की आशा नहीं की जा सकती। ऐसा परमेश्वर 'समोऽहं सर्वभूतेषु' का दावा नहीं कर सकता। वह सब प्राणियों के लिए एक जैसा नहीं होगा। जो उसकी स्तुति करेंगे वे उसके अपने होंगे। उनके प्रति उसका व्यवहार दया और सहानुभूति का होगा। इसके विपरीत जो उसकी स्तुति आदि नहीं करेंगे वे उसके लिए पराये होंगे और उनके प्रति, वैरभाव नहीं तो, कम से कम उपेक्षा का भाव तो वह रक्खेगा ही। अपनों पर उपकार करना परोक्ष-रूप से अपने पर उपकार करना है। हाथ-पैर जोड़ने से परमात्मा अपराधियों को छोड़ देता है—यह सुनते ही लोगों में पाप के प्रति आकर्षण बढ़ेगा और कालान्तर में खुशामद के साथ-साथ सिफारिश और रिश्वत (दान-दक्षिणा

---

1. The Lord is possessed of paradoxical and mysterious powers and it is possible for the Lord to have not only the attributes of perfect justice and impartiality, but also the quality of showing special favour to his devotees. —Radhakrishnan : Brahmasutra, p. 365

आदि) का बाजार गर्म हो जायेगा। वस्तुतः परमेश्वर उदासीन अथवा तटस्थ भाव से जीवों के कर्मों का साक्षी रहते हुए न्यायपरायण है। उसके व्यवहार में न्याय और दया का विलक्षण समन्वय है, परन्तु है वह सबके लिए एक-जैसा। उसमें अपने-पराये का भेद नहीं है।

फल की आशा न रखने का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे न चाहने मात्र से कर्म का फल मिले बिना रह जायेगा। फल तो अवश्य मिलेगा, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो फल मिलेगा वह हमारी इच्छा के अनुकूल ही होगा। फल अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी। फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता पर ही मनुष्य सुखी-दुखी होता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि बिना सोचे-समझे अर्थात् बिना यह जाने कि किस कर्म के करने का क्या फल होगा, किसी कर्म को कर डाला जाये। सच तो यह है कि कर्म की प्रेरणा ही फल की दृष्टि से होती है। प्रश्न केवल चिन्तन का है। आरम्भ में फल की प्रेरणा होना स्वाभाविक है, किन्तु कर्म करते हुए हर समय फल का चिन्तन करते रहना कर्त्तव्य के यथेष्ट पालन में बाधक है। इसलिए कर्म का निश्चय हो जाने पर सर्वात्मना उसी में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। वेतन पाने के लिए अध्यापन कार्य को स्वीकार करने में दोष नहीं, परन्तु जब वह व्यक्ति अध्यापन कार्य की उपेक्षा करके वेतनवृद्धि, ग्रेड, महँगाई भत्ता, ट्युशन आदि को ही अपने चिन्तनक्षेत्र का विषय बना लेता है और तदर्थ आन्दोलनों में ही अपना अधिकांश समय लगाने लगता है तब वह कर्म का हेतु न रहकर कर्मफल का हेतु बन जाता है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके गीता में कहा गया है कि कर्म ही मनुष्य के चिन्तन-क्षेत्र का विषय है, कर्म का फल उसके अधिकारक्षेत्र से बाहर है।[1] सेसिल (Cecil) के शब्दों में कर्त्तव्य हमारे हाथ में है, फल ईश्वर के अधीन है।[2]

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥—गीता २।४७

2. Duties are ours, events are God's.—Cecil
Virtue lies in struggle, not in prize.—Anon
The whole praise of virtuc lies in action.—Anon
Duties must be done, whether the repay or not.
—Emerson

संसार का अन्त निवृत्ति में है। यदि त्याग की अवस्था में पहुँचने पर भी भोग की वासना बनी रहेगी तो वह मनुष्य को भोग में प्रवृत्त करने के लिए बार-बार इस लोक में धकेलती रहेगी। अनुभव द्वारा इस बात का निश्चय हो जाने पर वह कर्म और उसकी वासना में लिप्त होने से बचा रहता है। अनित्य कर्मों के फल भी अनित्य होते हैं। वे सरदी के बादलों की तरह आते-जाते रहते हैं: नित्य सुख पाने के उद्देश्य से आवश्यक साधनोपायों को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ गुरु के पास जाना आवश्यक है।[१] हाथ में समिधा लेकर जाने से वैभव और अभिमान का त्याग करके जाना अभिप्रेत है। तपस्वी गुरु के लिए भी समिधा से बढ़कर प्रिय वस्तु नहीं हो सकती।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इह—इस संसार में, कर्माणि—निष्काम कर्म, कुर्वन् एव—करते हुए ही, शतं समाः—सौ वर्ष तक, जिजीविषेत्—जीने की इच्छा करे। एवं—इस प्रकार कर्म करते हुए, त्वयि नरे—तुझ मनुष्य में, कर्म न लिप्यते—कर्म लिप्त नहीं होगा। इतः—इससे, अन्यथा—अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग, न अस्ति—नहीं है।

Performing, verily, your duties, you should desire to live a hundred years in this world. Thus it is, not otherwise, action cleaves not a man.

---

१. गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।
—मुण्डक० १-२-१२

आत्महनन

मनुष्ययोनि—कर्म, भोग और उभय योनिभेद से तीन प्रकार की व्यवस्था है। कर्मयोनि में जीव के पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मों का विपाक नहीं होता। वह केवल भविष्य के लिए कर्म करता है। भोगयोनि में जीव केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए आता है। उभययोनि में जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के साथ-साथ भविष्य के लिए कर्म भी करता रहता है। यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से है। प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि में होता हुआ भी कुछ न कुछ अवश्य करता है, क्योंकि विना कर्म के तो भोग भी सम्पन्न नहीं होता, किन्तु विधि-निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि में किये गये कर्मों से फलोत्पादक अन्य संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होते। इसलिए ऐसे कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार कर्मयोनि में भोग होता है, क्योंकि देहरक्षा के लिए उपयुक्त खान-पान, वस्त्रादि की व्यवस्था तो करनी ही पड़ती है, किन्तु यह भोग कर्म विपाक के रूप में नहीं होता, अतः जो देह मुख्य रूप से जिस लिए मिलता है उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के साथ जहाँ ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, संस्कार आदि को जन्म देने के कारण भोग को प्रस्तुत करते हैं वह उभय-योनि कहलाती है।

कर्म शेष न होने से मुक्तात्माएँ सृष्टि के आदि में प्रकट होनेवाले वेद प्रवक्ता ऋषियों तथा अन्य देव पुरुषों के रूप में कर्मयोनि में जन्म लेती हैं। अयोनिज होने के कारण उन्हें गर्भवासादि का कष्ट भी नहीं सहना पड़ता। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं। जीवनयापन के लिए उन्हें भी कुछ न कुछ करना पड़ता है, परन्तु उनके ये कर्म मात्र नैसर्गिक क्रियाएँ हैं। उनका विपाक नहीं होता। एक मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसमें

रहता हुआ जीव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है। इसीलिए अन्य योनियों में पाप-पुण्य के फल भोगकर बार-बार इस योनि में आता है। इसी योनि में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों का निष्पादन सम्भव है। इसी में 'भोगापवर्गार्थम्' सार्थक होता है। मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वोत्कृष्ट योनि माना गया है। पाप-पुण्य केवल मनुष्य जन्म में सम्भव है।

यह निर्विवाद सत्य है कि अनेक पुण्यों के फलस्वरूप मानवदेह प्राप्त होता है। ऐसे दुर्लभ देह को पाकर उसे असमय में नष्ट कर देना पाप नहीं तो क्या है? जो मनुष्य अज्ञान या भ्रान्त ज्ञान के कारण शरीर की शक्तियों को उपेक्षा द्वारा नष्ट होने देते हैं, वे पहली कोटि के आत्महन्ता या आत्मघाती हैं। उनसे बढकर दोष के भागी दूसरी कोटि के वे मनुष्य हैं जो विषयवासनादि को ही जीवन का परम ध्येय मानकर दुर्वासनाओं और दुर्व्यसनों में फँसकर शरीर का दुरुपयोग करके उसे असमय में क्षीण कर देते हैं। तीसरी, और सबसे निकृष्ट, कोटि के आत्मघाती वे लोग हैं जो इस जन्म में अभ्युदय और परजन्म में निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के साधनभूत मानवशरीर को स्वयं नष्ट करके अपने वर्तमान और भविष्य दोनों को बिगाड़ लेते हैं। आत्मा तो नित्य है। अनुच्छित्तिधर्मा होने से वह 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'—शरीर के नाश होने पर भी नहीं मरता। समय आने पर शरीर को छोड़कर चल देता है। शरीर से जीवात्मा का निकल जाना ही मृत्यु है। इसलिए जानबूझकर स्वयं आत्मा को शरीर से विमुक्त कर देना आत्महनन, आत्मघात या आत्महत्या कहाती है।

यदि कोई कैदी जेल से भागकर सजा से बचना चाहे तो बच नहीं सकता। पकड़े जाने पर शेष अवधि के लिए तो उसे जेल में रहना ही होगा, जेल से भागने के अपराध में उसे अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा। इसी प्रकार दुःखों से तंग आकर यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिल रहे दुःखों के भोग से तो छूट नहीं पायेगा, आत्महत्या के अपराध के कारण उसे, बच जाने पर राजकीय व्यवस्था में तथा मर जाने पर ईश्वरीय व्यवस्था में अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा। सवाल हल न कर पाने के कारण यदि विद्यार्थी झुँझलाकर स्लेट ही तोड़

डाले तो सवाल हल करने के काम से तो बच नहीं सकेगा। स्लेट तोड़ने के अपराध में दण्डित अवश्य होगा। यह मूर्खतावश अपने दुःखों को जानबूझकर बढ़ाना होगा।

आत्मघातियों की एक कोटि उन लोगों की है जो आत्मा को पदच्युत कर—स्वामी से सेवक बनाकर उसे अपमानित करते हैं। कठोपनिषद् में आत्मा को रथ का स्वामी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम और इन्द्रियों को घोड़े बताया है।[1] आत्मा के स्वामी होने के कारण, मन, इन्द्रिय आदि सबको उसकी आज्ञा में चलना चाहिए और प्रत्येक कार्य उसके हिताहित को ध्यान में रखकर करना चाहिये। इसके विपरीत यदि मन आत्मा की उपेक्षा करके इन्द्रियों की इच्छापूर्ति में लगा रहे और इन्द्रियाँ आत्मा के सुख-दुःख की चिन्ता किये बिना अपने-अपने विषयों में मग्न रहें, स्वयं आत्मा की आज्ञा में न चलकर, जिधर चाहें उधर शरीर रूपी रथ और उसके स्वामी आत्मा को घसीटे फिरें तो उस अराजकता की स्थिति में रथ की क्या दशा होगी और उसके स्वामी की क्या दुर्गति होगी—इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। ऐसी अवस्था में आत्मा रथ का स्वामी न रहकर घोड़ों का दास बन जायेगा। 'क्या करूँ' मन नहीं मानता' कहकर जब रथ का स्वामी अपने अधीनस्थ कर्मचारी की उद्दण्डता की शिकायत करके रह जाता है तो उसकी यह विवशता की स्थिति उसकी हत्या नहीं तो क्या है?

परन्तु आत्मघाती मनुष्यों में सबसे अधिक संख्या उन लोगों की है जो अपनी अन्तरात्मा को दबाकर उसकी भावना के विरुद्ध आचरण करते हैं। जीवात्मा जिन कर्मों का अनुष्ठान करना चाहता है उसके उस आचरण व उद्योग की अपेक्षा करके परमेश्वर अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक सचेत करता रहता है। हृदयस्थित भगवान् धर्म-अधर्म की ओर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए

---

१. आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥—कठ० ३।२-३

प्रेरणा करता रहता है। जो आचरण किया जा रहा है, वह अच्छा है या बुरा, कर्त्तव्या है या अकर्त्तव्य—ऐसे विवेचनापूर्वक तथ्य का स्पष्ट होना प्रेरणा का स्वरूप कहा जा सकता है। जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी अच्छे काम में लगाता है तो आत्मा में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। इसके विपरीत जब आत्मा किसी बुरे काम में प्रवृत्त होने लगता है तो आत्मा के भीतर से भय, शंका और लज्जा के भाव उठते हैं। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके भीतर कोई ऐसा मार्गदर्शक बैठा है जो भले-बुरे का ज्ञान कराता रहता है। वह मार्गदर्शक हृदयस्थित ब्रह्म है।[1] यह दूसरी बात है कि हम अपने मार्गदर्शक की बात सुनें या न सुनें। घड़ी तो टिक-टिक करती रहती है। यह ठीक है कि उसके आस-पास शोर होने पर वह हमें सुनाई नहीं देती। तब भी, यदि पास जाकर और कान लगाकर सुनने का यत्न किया जाये तो वह सुनाई दे जाती है। विषय-वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोक में 'हृदय की पुकार' या 'अन्तरात्मा की आवाज' कहानेवाली हृदयस्थित आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम नहीं सुन पाते, परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बुरी-से-बुरी अवस्था में भी और कभी न सुननेवाला व्यक्ति भी यदि चाहे तो अपने भीतर कान लगाकर उस आवाज को सुन सकता है। बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी बुरा काम करते समय भय, शंका और लज्जा का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। डा० राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ में कहा है कि बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी एक ज्योति दिखाई देती है जिसकी उपेक्षा वह भले ही करदे किन्तु जिसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें सँभालता है और हमारे अन्धेरे और विद्रोही मन में भी अपने प्रकाश की किरणें डाले बिना नहीं रहता।[2]

---

१. एष प्रजापतिर्यद् ब्रह्म।—बृहद्० ५।३।१
सत्यार्थप्रकाश—सप्तम समुल्लास

२. The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he canot put out though he may

हर समय सावधान करता रहनेवाला यह कौन है, इस विषय में मत-भेद हो सकता है, परन्तु मनुष्य के भीतर बैठकर उसका मार्गदर्शन करनेवाली किसी परमगुरु की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। उपनिषद् के अनुसार वह आत्मा है। आत्मा पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। नास्तिक लोग उसे अन्तरात्मा की आवाज (Voice of the conscience) कहते हैं। आस्तिक लोग उसे ईश्वरीय प्रेरणा का नाम देते हैं। इस आवाज़ या प्रेरणा की उपेक्षा हम भले ही कर दें, उसके फल से अपने को नहीं बचा सकते।

जीवात्मा स्वरूप से शुद्ध तथा पवित्र है—ईर्ष्या, द्वेषादि दोषों से सर्वथा अलिप्त है, अतः उसकी प्रेरणा भी सदा निर्दोष होगी। इसीलिए धर्मशास्त्र ने आत्मप्रेरणा को 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कहकर तदनुसार आचरण करने का निर्देश किया है। महाकवि कालिदास ने सन्देहास्पद विषयों में अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को प्रमाणभूत माना है।[1] ऐसे निर्दोष और हितैषी बन्धु-आत्मा[2] की बात को जो नहीं मानता उसके लिए हितोपदेश में कहा है कि उसे विपत्तियाँ आ घेरती हैं और उसे विपत्तियों में घिरा देखकर उसके शत्रु प्रसन्न होते हैं।[3] जो लोग अन्तरात्मा की ध्वनि पर ध्यान देते और तदनुसार कार्य करते हैं वे कभी पथभ्रष्ट नहीं होते, किन्तु जो लोग उसके विपरीत आचरण करते हैं—उसके रोकने पर भी दुष्कर्म करने से नहीं रुकते वे निश्चय ही आत्महनन करते हैं। शिशुपाल की कोटि के ऐसे लोग जानते-बूझते हुए भी न सत्कर्म में प्रवृत्त होते और न दुष्कर्म से

---

try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts. — Hindu View of Life.

१. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।
—अभि० शाकुन्तल १-१-१९

२. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः।—गीता ६।५

३. सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः॥

निवृत्त होते हैं। उनका अन्त भी वही होता है जो शिशुपाल का हुआ था।[१]

परमात्मा की ओर से होनेवाली प्रेरणा में किसी के प्रति रागद्वेष नहीं होता। वह मात्र प्रेरणा होती है—तथ्य का प्रकाश होता है। उसमें किसी पर बलपूर्वक कार्यानुष्ठान का आरोप नहीं है। परमेश्वर तानाशाह न होकर संवैधानिक शासक है। इसलिए वह जीवात्मा के मौलिक अधिकार के रूप में प्राप्त उसके कर्मस्वातन्त्र्य का विघात करके उसपर दबाव नहीं डालता—उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे किसी कार्य में बलात् प्रवृत्त नहीं करता।

ऋग्वेद में कहा है कि ईश्वर समस्त प्राणियों पर शासन करता व उनका नियन्त्रण करता है।[२] यजुर्वेद में तो और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परमेश्वर हमें श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करे।[3] माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि वह आत्मा में रहता हुआ, किन्तु आत्मा मे भिन्न, आत्मा का नियमन करता है।[४] इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि धर्म की ओर लानेवाले, पाप से हटानेवाले, समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानो।[५] इस प्रकार के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि प्राणियों का नियन्त्रण करते हुए परमेश्वर ही जीवों की धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है, किन्तु जीवात्मा के कर्मस्वातन्त्र्य विषयक आधारभूत सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में इन उद्धरणों पर विचार करने से स्पष्ट हो जायेगा कि ये सभी वचन मात्र प्रेरणामूलक हैं। इस प्रकार की ईश्वरीय प्रेरणा से जीवात्मा के स्वातन्त्र्य में कोई बाधा नहीं आती। प्रेरयिता की ओर से प्रेरणा पाकर भी कर्त्ता की स्वतन्त्रता में व्याघात नहीं आता। प्रेरयिता स्वयं कुछ नहीं करता। कर्म के व्यापार एवं सम्पादन में

---

१. जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

२. य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः।—ऋ० १०।१२१।३

३. सविता देवः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।—यजुः० १।१

४. य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तर आत्मानमन्तरो यमयति।
—शतपथ० १४।६।७।३०

५. धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम।—श्वेत० ६।६

करनेवाला स्वतन्त्र है। जीवात्मा ईश्वर के हाथों में कठपुतली नहीं है। फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमेश्वर की आन्तर प्रेरणा होने पर भी आत्मा का स्वातन्त्र्य निर्बाध बना रहता है।

परमेश्वर सर्वोपरि राजा अवश्य है, किन्तु विधाता होने से विधान के अन्तर्गत ही प्रभुसत्ता सम्पन्न है। वह सृष्टि का संचालन तथा नियमन करता है किन्तु मनमाने ढंग से न करके नियमों के अनुसार करता है। गीता में जो यह कहा गया है कि ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ यन्त्र पर चढ़े सर्वभूतों को माया से घुमा रहा है,[1] उसका इतना ही अभिप्राय है कि ईश्वर के नियमरूप यन्त्र में स्थित (यन्त्रारूढ़ानि) जीव संसार में विचरण करते हैं। इसी अध्याय के ६०वें श्लोक के उत्तरपद[2] के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि इच्छा न होते हुए भी मनुष्य को कर्मविशेष में प्रवृत्त होना पड़ता है। पूर्वापर प्रसंग को न देखने से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है। इसी श्लोक के पहले पद में 'अपने स्वाभाविक कर्मों से बँधकर कर्म करने'[3] की बात कही गई है और इसी अध्याय के ४३वें श्लोक[4] में क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का स्वभावज कर्म 'युद्धे चापलायनम्' युद्ध से न भागना बताया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने ढंग से अर्जुन को पलायन न करके युद्ध में प्रवृत्त होने की प्रेरणा की है। इस सन्दर्भ में गीता के तीसरे अध्याय का ३६ वाँ[5] श्लोक भी द्रष्टव्य है जिसके आधार पर जीव के कर्म करने में स्वतन्त्र न होने की मान्यता को पुष्ट करने का यत्न किया जाता है। इस श्लोक में इच्छा न होने पर भी मनुष्य के

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥—१८।६१

२. कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।—१८।६०

३. स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः।—१८।६०

४. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥—१८।४३

५. अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥—३।३६

बलात् धकेले जाकर पाप में प्रवृत्त होने का उल्लेख है, किन्तु यहाँ पर भी अर्जुन के प्रश्न 'केन प्रयुक्तः' का उत्तर देते हुए 'ईश्वरेण प्रयुक्तः' या 'मया प्रयुक्तः' न कहकर रजोगुण से उत्पन्न काम क्रोध आदि दोषों को मनुष्य के पापकर्म में प्रवृत्त होने में कारण बताया है।[१] गीता की भावना उसी के (१८।६३) शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण ने जो कहना था कह दिया और अन्त में 'इसपर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर'[२] कहकर ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र होने के सिद्धान्त की पुष्टि कर दी।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक लेख में लिखा था—"निश्चय ही सृष्टि के मूल में कोई बड़ा दोष है जिसके कारण संसार में व्याप्त अव्यवस्था तथा दुःख के पीछे किसी प्रयोजनवत्ता के होने में सन्देह होने लगता है। आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने संसार में व्याप्त पीड़ा को देखकर प्रश्न किया था—यह कैसे हो सकता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना करे और उसे दुखी रक्खे ? क्योंकि यदि वह सर्वशक्तिमान् है और फिर भी संसार को दुखी रहने देता है तो वह भला नहीं है और यदि वह सर्वशक्तिमान् नहीं है तो ईश्वर नहीं है।"[3]

वैदिक धर्म और भारतीय दर्शन के मूलतत्त्वों से अनभिज्ञ लोग ही ऐसी बातें करते हैं। 'सर्वशक्तिमान्' का तात्पर्य है ईश्वर का किसी अन्य के

---

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।—३।३७

२. विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।—१८।६३

३. There is something radically wrong with the world and one is led to doubt if there is any ultimate purpose behind this chaos and unhappiness. Two thousand five hundered years ago the great Buddha saw this misery and in agony of spirit asked himself—
How can it be that Brahma
Would make a world and keep it miserable ?
Since if all powerful He leaves it so,
He is not good, and if not powerful,
He is not God.

साहाय्य के विना अपना कार्य करने में समर्थ होना। ईश्वर के जो स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना, जीवों के कर्मों की यथायोग्य व्यवस्था करना आदि—उनके करने में उसे किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं, किन्तु अपने गुणकर्मस्वभाव और सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर और जीव के यथार्थस्वरूप को न समझने के कारण ही महात्मा बुद्ध ने यह कह दिया कि या तो परमात्मा निष्पाप नहीं है या सर्वशक्तिमान् नहीं। यदि दोनों होता तो सृष्टि में कहीं पाप न होता। यदि जीव को ईश्वर ने वनाया होता तो ऐसा होना सम्भव था, किन्तु जीव तो अनादि अनुत्पन्न है। वाइवल का यह कथन भी मिथ्या है कि ईश्वर ने जीव को अपने जैसा वनाया।[1] यदि अपने जैसा वनाया होता तो जीव भी परमेश्वर की तरह शुद्ध एवं निष्पाप होता। तव वह कभी पाप करता ही नहीं। ईश्वर कभी नहीं चाहेगा कि उसकी प्रजा में कहीं भी कोई पाप करे, परन्तु पाप तो प्रत्यक्ष है। वास्तव में जीव की स्वतन्त्र सत्ता है, वह अपने स्वभाव से कर्म करने में स्वतन्त्र है। अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होने से जीव कभी-कभी पाप में प्रवृत्त हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते हुए डा० राधाकृष्णन ने लिखा है—"यदि ईश्वर सृष्टि को मनमाने ढंग से वना पाता तो उसमें कहीं भी बुराई न दीख पड़ती, किन्तु वह ऐसा जीवात्मा की स्वतन्त्रता छीनकर कर सकता था। परमात्मा की सृष्टि में बुराई इसीलिए है कि वह जीवात्मा की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।"[2] अन्यत्र उन्होंने लिखा कि "सृष्टि में स्वतन्त्र निर्णय लेने में समर्थ जीव हैं जिन्हें प्रभावित तो किया जा सकता है किन्तु वश में नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमेश्वर तानाशाह नहीं

---

1. God made man in his own image. —The Bible
2. If God had desired to create a world automata, there would have been no evil; for God could have eliminatad evil, if he had so wished by denying freedom of choice. God permits evil because he does not interfere with human choice. —Brahmasutra, p. 155.

है।"[१] विचार परिवर्तन के सम्बन्ध में उनका मत है कि "भीतर से उद्भूत होनेवाला विचार-परिवर्तन ही वास्तविक परिवर्तन है। शिक्षक का कर्त्तव्य अपने विचारों को थोपना नहीं, अपितु विचारों को प्रेरित करना है। हिन्दू विचारधारा में बल या धमकी से नहीं, सुझाव व प्रेरणा से काम लिया जाता है।"[२]

जो लोग मन में कुछ सोचते, वाणी से कुछ कहते और व्यवहार में कुछ और ही करते हैं वे भी एक प्रकार के आत्मघाती हैं। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद (४०।३) का भाष्य करते हुए लिखा है—"जो लोग आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं वे राक्षस, असुर या पिशाच हैं। इसके विपरीत जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म में निष्कपट एक-सा आचरण करते हैं वे देव कहाते हैं।" एक पूर्ण पुरुष के विचार, वाणी और कर्म में पूर्ण समन्वय होता है।[3] फारसी में कहा है कि 'जिसकी वाणी और मन एक हैं, मैं उसपर सौ जानें न्यौछावर करने को तैयार हूँ।'[4] संस्कृत साहित्य में महात्मा और दुरात्मा में भेद दर्शाते हुए कहा है—"जो मन-वचन-कर्म में एक होते हैं वे महात्मा कहाते हैं। इसके विपरीत जिनके मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ होता है वे दुरात्मा कहाते हैं।"[५]

---

१. The world consists of active choosing individuals who can be influenced but not controlled, for God is not a dictator. Commentary on the Gita, p. 24

२. Any change to be real must come from within. The task of the teacher is not so much to impose an opinion as to kindle an aspiration. The Hindu method adopts not force or threats but suggestion or persuasion. —Hindu View of life.

३. In a integrated man, thought, speech and action are one piece.

४. सद जां फिदा आंके ज़ुबानो दिलश यके अस्त।

५. मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् हि दुरात्मनाम्॥

सज्जन पुरुष की यह पहचान है कि वह जो कुछ मन में सोचता है वही वाणी से कहता और कर्म में करता है।[१] महाभारत में तो बड़े कठोर शब्दों में कहा है कि जिसके आत्मा में कुछ हो और कहता कुछ और हो वह कौन-सा पाप नहीं करता ? ऐसे आत्महन्ता से बढ़कर कोई चोर नहीं।"[२] अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने किसी तुच्छ स्वार्थ के लिए आत्मा या अन्तःकरण की प्रेरणा के विरुद्ध असत्य व्यवहार करनेवाले लोगों की भर्त्सना करते हुए कहा है—जिस (आत्मा) को तुम पैसों से खरीद नहीं सकते उसे पैसों के बदले बेचते क्यों हो।[३] यह तो घाटे का सौदा है। इसी भाव को बाइबल में इन शब्दों में व्यक्त किया है—अपनी आत्मा को खोकर यदि कोई मनुष्य संसार-भर के ऐश्वर्य को भी प्राप्त कर ले तो उसे क्या लाभ होगा।[४]

उपनिषद् की शिक्षा के अभाव में नैतिक पतन अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ रहा है। वर्तमान में वे राजनीतिज्ञ जिन्हें अपने हृद्गत विचारों को दबाना आता है, जानबूझ कर ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं जिसके समय आने पर आवश्यकतानुसार मनमाने अर्थ निकाले जा सकें। ऐसे लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों को बुद्धू बनाने में गर्व अनुभव करते हैं और जो ऐसा नहीं कर सकते—अपनी बात से पलट नहीं सकते—उन्हें अयोग्य घोषित कर देते हैं।[५] धीरे-धीरे वे इस बात के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें आत्मा की आवाज सुनाई देनी बन्द हो जाती है—मानो उनकी आत्मा मर गई हो। यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए महर्षि

---

१. यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।

२. योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।

३. Why sell for gold what gold can't buy.

४. What shall it profit a man if he gains the whole world but loses his soul.

५. ना अहल हैं वो अहले सयासत की नजर में।
वादों से अपने जिनको मुकरना नहीं आता।।

दयानन्द ने लिखा—"तुम लोगों की राजनीति में स्थित अच्छी वाणी सत्य-स्वरूप हो। राजा, उसके नौकर और प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिनकी वाणी सब काल में सत्य होती है वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन राजपुरुषों का विश्वास नहीं होता।"[१] किन्तु आज जब राजनेताओं को निर्वाचन के समय किये गये वायदों की याद दिलाई जाती है तो वे हँसकर यह कहते हुए टाल देते हैं—'वो वायदा ही क्या जो वफा हो गया'। और जब उन्हें अपनी बात पर कायम रहने और सदा एक-सी बात कहने के लिए कहा जाता है तो वे कहते हैं कि राजनीति में कुछ भी स्थायी नहीं होता और केवल मूर्ख ही सदा एक-सी बात करते हैं।[२] 'रामो द्विर्नाभिभाषते' और 'प्राण जाये पर वचन न जाई' पर गर्व करनेवाले देश में अब आत्महनन को ही योग्यता और कार्य-कुशलता की कसौटी माना जाने लगा है। छल, कपट, बेइमानी को Tact, Policy, Strategy, Diplomacy आदि का नाम देकर प्रतिष्ठित किया जा रहा है। झूठ के पर्याय इन शब्दों की आड़ में किया गया पाप भी धर्म बन जाता है। संस्कृत के 'नीति' शब्द को अंगरेजी के Policy का पर्याय माना जाता है। 'नीति' शब्द के गूढार्थ को न समझने के कारण ही ऐसा कहा जाता है। कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर ने पञ्चतन्त्र का अंगरेजी में अनुवाद करते हुए उसकी भूमिका में लिखा है कि पश्चिम के विद्वान् अभी तक इस छोटे-से शब्द (नीति) का अंगरेजी पर्याय नहीं ढूँढ़ सके हैं। उस विद्वान् के मत में इस छोटे-से शब्द के अर्थ को अंगरेजी में 'जीवन का विवेकपूर्ण निर्वाह' कहकर व्यक्त किया जा सकता है।[3]

---

१. एषा वः सत्या संवागभूत्।—यजुः० ९।१२

२. Nothing is irrevocable in politics and only fools are consistent.

३. Western scholarship should be ashamed that it has not been able to find a suitable equivalent for the Sanskrit word NITI. At best it can be paraphrased as the 'wise conduct of life'.

व्यक्तिगत (Private) और सार्वजनिक (Public) जीवन के नाम से जीवन का वर्गीकरण भी परोक्षरूप से आत्महनन का ही एक रूप हैं। हमारा वास्तविक रूप कुछ और होता है। उसे छुपाकर समाज में हम अपना दूसरा ही रूप प्रस्तुत करते हैं। 'अन्तःशाक्ता वहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः' की हमारी वात जव खुल जाती है और लोग आक्षेप करने लगते हैं तो हम यह कहकर उन्हें चुप करा देते हैं कि आपको हमारे व्यक्तिगत जीवन (Private life) से क्या? आप तो हमारे सार्वजनिक जीवन (Public life) को देखिये। जिनकी आत्मा में पवित्रता नहीं—जिनका व्यक्तिगत जीवन दूषित है ऐसे अनेक व्यक्तियों से मिलकर वने संघात या समाज में पवित्रता कैसे और कहाँ से आ सकती है! अपने जीते जी हम अपने दोषों को पीछे डालते रहते हैं। जव हम यहाँ से जाते हैं तो लोगों की ओर हमारी पीठ होती है और तव हमारे सारे दोष आँखों के सामने आ जाते हैं। वेद कहता है कि जो तुम्हारे भीतर हो वही वाहर हो और जो वाहर हो वही भीतर हो।[1] इसके विपरीत आचरण से लोगों का विश्वास-घात होता है और अपना आत्मघात।

आत्मा के अनुकूल आचरण करने से चरित्र निर्माण करते हुए मनुष्य को ही अध्यात्मजगत् में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। पाश्चात्य मनीषियों ने नतमस्तक हो उपषिद् की सचाई को स्वीकार किया है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध चिन्तक तथा लेखक मारले ने अपनी पुस्तक Compromise में सम्मति के तीन स्तर वताये हैं—

१. सम्मति का निर्धारण।
२. सम्मति की अभिव्यक्ति।
३. सम्मति का कार्यान्वयन।[2]

मारले के मत में सम्मति का निर्धारण करने में कोई समझौता नहीं

---

१. यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्।

२. Formation of opinion.
Expression of opinion.
Execution of opinion.

करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि और इच्छा के अनुसार अपनी सम्मति बनाने का जन्मसिद्ध अधिकार है। सम्मति के अभिव्यक्त करने में कुछ लेन-देन सम्भव है और वह केवल इतना कि अपनी बात को ग्राह्य बनाकर कहा जाये और यदि उसके कारण किसी बड़े दुष्परिणाम की आशंका हो तो मौन रहा जाये। मनु ने इस बात को इन शब्दों में कहा है— "मनुष्य सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, प्रिय असत्य न बोले।[1] मारले के मत में. सम्मति के कार्यान्वयन में पूरा-पूरा समझौता हो सकता है। अल्पमत की सम्मति की उपेक्षा करके बहुमत के अनुसार कार्य करना कार्यान्वयन सम्बन्धी समझौता है, परन्तु आत्मप्रेरणा के अनुकूल सम्मति स्थिर करने में किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहिए। ऐसा करना आत्म-हनन होगा।

जिन लोगों को वैज्ञानिक जगत् में अद्यतन सिद्धान्तों की जानकारी नहीं है वे अभी तक यही समझते हैं कि पंचभूतों के संघात का नाम ही जीवात्मा है और इसलिए शरीर के नष्ट होते ही जीवात्मा का नाश हो जाता है।[2] जब जड़ तत्त्व विभिन्न देह आदि के रूप में परिणत होते हैं तो उनमें एक विशेष शक्ति का उद्भव हो जाता है। उसी को चेतना कहते हैं। तन्तुओं में शीतादि के निवारण की शक्ति नहीं होती परन्तु कपड़ा बन जाने पर उसमें शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऐसे ही देहादि जड़ तत्त्वों में चेतना न होने पर भी देहरचना के साथ वहाँ चेतनाशक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

इस शंका का समाधान करते हुए वेदान्तदर्शन में कहा है कि आत्मा

---

१. सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्, प्रियं च नानृतम्।
—मनु० ४।१३८

२. The soul is only the sum total of the activities of the body, and that the former ceases to exist when death overtakes the latter.
जिन्दगी क्या है, अनासिर की मुनासिब तरतीब।
मौत क्या है, इन्हीं अजजा का परीशां होना॥

का देह से व्यतिरेक-भेद मानना आवश्यक है, क्योंकि देह के रहते हुए भी उसमें चेतनता आदि गुण नहीं पाये जाते ।[1] मृत देह में विभिन्न जड़ तत्त्वों के ज्यों के त्यों विद्यमान रहने पर भी इन्द्रियों से न ज्ञान की उपलब्धि होती है न कर्म की। इसलिए चेतनतत्त्व शरीर में सर्वथा अतिरिक्त है। उसी तत्त्व का नाम आत्मा है जो शरीर के मरने—नष्ट होने पर भी नहीं मरता ।[2]

यदि पंचभूतों के संघात का नाम ही आत्मा होता तो शरीर के नष्ट होते ही जीने-मरने का झंझट समाप्त हो जाता, क्योंकि चार्वाक के अनुसार 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?' परन्तु न इस देह के बनने पर हम जन्म लेते और न इसके नष्ट होने पर मरते हैं। डा० राधाकृष्णन के अनुसार हमारे निरन्तर जन्म लेते रहने का नाम जीवन है और प्रत्येक जन्म के साथ अनिवार्य रूप से मृत्यु जुड़ी है ।[3]

पुनर्जन्म—यहाँ से जाकर फिर होना पुनर्जन्म कहाता है ।[4] जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है उसे दुबारा प्राप्त नहीं कर सकता। एक देह को छोड़कर देहान्तर प्राप्ति ही पुनरुत्पत्ति है। मोक्ष प्राप्ति होने पर नियत समय के अन्तराल को छोड़कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म-मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त। आत्मा को नित्य मानने पर शरीरों को छोड़ने और ग्रहण करने का अनुक्रम अनिवार्य हो जाता है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ नष्ट हो जाता। फिर उसकी उत्पत्ति कहाँ से होती ? क्योंकि स्वरूप से उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया—"जब

---

१. व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ।—वे०द० ३।३।५४
२. न हन्यते हन्यमाने शरीरे।—गीता २।२०
३. All life is a constant birth or becoming and all birth entails constant death.—An Idealist View of Life.
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता २।७
४. प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः ।—न्याय० १।१।१९

वृक्ष को काट गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खड़ा होता है, परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है ?"[1] जब किसी से उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं याज्ञवल्क्य ने कहा —"वह मूल आत्मा है जो स्वरूप से कभी उत्पन्न नहीं होता और सदा बना रहता है।"[2] मनुष्य अन्न की भाँति पैदा होता, बढ़ता, नष्ट होता और पुनः उत्पन्न होता है।[3] प्रसिद्ध फ्रैन्च लेखक विक्टर ह्यूगो ने कहा है —"मुझे अपने भीतर से पुनर्जन्म का आभास होता है। मुझे लगता है जैसे मैं एक जंगल हूँ जो एक बार कट चुका है। उसमें फूटी नई शाखाएँ पहले की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत और सुन्दर हैं।[4]

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य हैं। कर्त्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध है। प्राणी कर्म से बँधा हुआ है[5] और कर्म का बिना भोगे क्षय नहीं होता।[6] पूर्वापर जन्म न मानने से 'कृतहानि' तथा 'अकृताभ्यागम' दोष आता और परमेश्वर 'नैर्घृण्य' तथा 'वैषम्य' का दोषी बनता है। जो लोग परजन्म नहीं मानते उनके गले 'कृतहानि' का दोष पड़ता है, क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जायेंगे, जबकि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है। इसलिए 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है। कर्म किये बिना सुख-दुःखरूप फल पाना 'अकृताभ्यागम' दोष कहलाता है। पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है।

---

१. मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।

—बृहद्० ३।६।२८

२. जात एव, न जायते।—बृहद्० ३।६।२८

३. सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः।—कठ० १।६

४. I feel in myself the future life. I am like a forest once cut down; the new shoots are stronger and lovelier than ever.

५. कर्मणा बध्यते जन्तुः।—म० भा० शान्तिपर्व २४०।७

६. नाभुक्तं क्षीयते कर्म।—म० भा०

एक आत्मा अत्यन्त सुखसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान बनकर जीवनभर दर-दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों? पूर्वजन्म है नहीं जिसमें उन्होंने पाप-पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे-बिठाये— बिना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों? बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिए इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्त्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और परजन्म के मानने से वहाँ इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दुःख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्यायकारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते।

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाये तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाये कि इस देह के साथ ही एक दिन हमारा भी अन्त हो जायेगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रहेगा? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सचाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' के अनुसार ही जीवन बिताना ठीक समझा जायेगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधारकर अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक कक्षा में रहते हुए एक वर्ष में जो पढ़ लिया सो पढ़ लिया। परीक्षा में असफल होने पर दुबारा पढ़ने का अवसर नहीं और सफल होने पर और आगे पढ़ने का अवसर नहीं। मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव है। इसीलिए गीता में कहा है कि जन्मजन्मान्तर की साधना के बाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास बन जाये तो क्या होगा? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्म का पुरुषार्थ

१. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।—गीता० ६।४८

व्यर्थ नहीं जायेगा।[1] आत्मा के अमर होने से उसके इस जन्म के संस्कार ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहाँ उसका अभ्यास छूटा है वहाँ से आगे प्रारम्भ करने के लिए उसे फिर अवसर मिलेगा। एक बार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिए।[2] ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्ण सफलता—मोक्ष की प्राप्ति होने तक बार-बार अवसर मिलता है। इसी से जीवन में उत्साह और शुभकर्मों में प्रवृत्ति को बल मिलता है। मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करेगा, जब उसे विश्वास होगा कि पुराने कपड़े इसलिए उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिए हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरों से भिन्न है। एक ही माँ-बाप के दो पुत्रों को अध्ययन के लिए एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनों में एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन-सहन की व्यवस्था में भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ है कि बार-बार समझाने पर भी उसे कुछ समझ में नहीं आता, जबकि दूसरे की धारणाशक्ति इतनी अच्छी है कि वह संकेतमात्र से सब समझ जाता है। उसे पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे उसे कोई नई बात नहीं बताई-सिखाई जा रही है, अपितु वह पहले पढ़े हुए की आवृत्तिमात्र कर रहा है। जिन घटनाओं को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट और रामानुज जैसी आत्माएँ संसार को चमत्कृत कर देती हैं। महाराज भोज के दरबार में चार ऐसे पण्डितों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुनने से श्लोक याद हो जाते थे। जान स्टुअर्ट मिल ने ६ वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू किया था। गेटे ने ७ वर्ष की आयु में अपना पहला प्रहसन लिखा था। मकोले ने ७ वर्ष की आयु में कविता करना शुरू कर दिया। ७-८ वर्ष की आयु में काव्य रचना करनेवाले

---

१. पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥—६-४०

२. नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।—मनुस्मृति ४-१३७

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वर्ड्सवर्थ को कविता करना किसने सिखा दिया ? वर्ड्सवर्थ के विषय में कहा जाता है कि जब उसके पिता ने कविता करने के कारण उसे पीटा और भविष्य में कविता न करने का वायदा करने को विवश किया तो वर्ड्सवर्थ के मुख से क्षमायाचना के शब्द भी कविता बनकर ही निकले ।[1] एक ओर जहाँ संसार में ऐसी विलक्षण प्रतिभाएँ देखने में आती हैं वहाँ दूसरी ओर निपट मूर्खों की भी कमी नहीं है। इस बुद्धिभेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है। ईश्वर को निमित्तकारण माना जाये तो वह पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास में कारण माननेवाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य के बीच पाये जानेवाले इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पानेवाले शंकराचार्य की महान् उपलब्धियाँ उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानी जा सकतीं। पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है—ऐसा माने बिना इसकी व्याख्या सम्भव नहीं। प्रारम्भ में ही किसी विशिष्ट विषय में रुचि अथवा प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म का अभ्यास ही कारण है। स्वामी रामतीर्थ ने एक जापानी का उल्लेख किया है जो ७० वर्ष की आयु में रूसी भाषा सीखने का यत्न कर रहा था। आयु के अन्तिम दिनों में किये जा रहे इस प्रयास के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसने कहा—यदि मैं इस जन्म में रूसी भाषा पूरी तरह न सीख सका तो भी मेरी आत्मा पर उसके संस्कार बने रह जायेंगे। परिणामतः अगले जन्म में बचपन से ही रूसी भाषा में मेरी प्रवृत्ति होगी और मैं उसे जल्दी सीख जाऊँगा। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म में प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है।

जीव के शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रथम प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर उसका संस्कार होता है। तदनन्तर स्मृति होती है। स्मृति होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास लेने और रोने लगता है। माता के स्तन से दूध पीने लगता है। पूर्व

---

१. Papa papa mercy take,
Verses I shall never make.

संस्कारों के विना यह प्रवृत्ति कहाँ से आ गई ? उसे कव कौन वता गया कि कैसे मुँह चलाकर दूध पिया जाता है। उसे दूध पीते देखकर यही आभास होता है कि वह सारी प्रक्रिया से पहले से परिचित है। पेट भरने पर स्तन को स्वयं छोड़कर अलग हो जाता है। यह निवृत्ति भाव भी कहाँ से आया ? एक दिन के वालक को, जिसने अभी अच्छी तरह आँखें भी नहीं खोलीं, माता-पिता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में असमर्थ हैं। स्पष्ट है कि वालक के भीतर स्थित आत्मा को पहले से ही कुछ स्मृति हैं। उसी के सहारे वह अपना काम चला रहा है। इस जन्म में जिसने अभी आहार का अभ्यास नहीं किया उस जातमात्र वालक का भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और स्मरण के विना स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ-पैर मारकर और रो-रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं हो सकता। पूर्वदेह में रहते हुए आत्मा के तद्विषयक अभ्यास और उसकी स्मृति ही वालक की इस प्रवृत्ति में कारण हैं।

सद्योजात वालक के द्वारा हर्ष, शोक, भय आदि की अभिव्यक्ति भी पुनर्जन्म को सिद्ध करती है। वालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार में पहले कुछ सप्ताहों में कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके वड़े हो जाने पर नहीं रहती। सोते-सोते वालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दुःखी-सा होकर मुँह बनाने लगता है और कभी भयाक्रान्त होकर काँप उठता या चीख पड़ता है। स्वप्नावस्था में किसी स्मृति के कारण ऐसा होता है। विना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं हो सकती। स्वप्नावस्था में वही देखा, सुना या अनुभव किया जाता है जो पहले कभी जाग्रतावस्था में देखा, सुना या अनुभव किया होता है। इस जन्म में अभी तक वालक ने सुख, दुःख या भय के कारणों को अनुभव नहीं किया। वाह्य जगत् में अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आरम्भ नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात वालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नहीं हो सकता।

जैसे जहाज की यात्रा की लम्बाई का अनुमान उसपर लदी सामग्री से होता है, वैसे ही मनुष्य की यात्रा की लम्बाई का अनुमान उसमें अन्तर्हित

शक्तियों से लगाया जा सकता है। यदि इसी जीवन के साथ मनुष्य का अन्त होना होता तो उसे इतने अधिक बौद्धिक सामर्थ्य, नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक आदर्शों से सम्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी ? जो कुछ मनुष्य के भीतर भरा है, वह इस बात का साक्षी है कि उसकी यात्रा का अन्त वर्तमान जीवन की बन्दरगाह पर होनेवाला नहीं है। विक्टर ह्यूगो का कथन है—"तुम कहते हो कि शारीरिक शक्तियों से अतिरिक्त आत्मा की कोई सत्ता नहीं। यदि ऐसा है तो क्या कारण है कि जैसे-जैसे मेरी शारीरिक शक्तियों का ह्रास होता जाता है वैसे-वैसे मेरी आत्मा की दीप्ति बढ़ती जाती है। मेरे सिर पर शिशिर मँडरा रही है, किन्तु मेरे हृदय के भीतर बसन्त का साम्राज्य है। पिछले ५० वर्षों से मैं अपने विचारों को इतिहास, दर्शन, संगीत, नाटक आदि के माध्यम से गद्य और पद्य में लिखता आ रहा हूँ। फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने हृद्गत विचारों का सहस्रांश भी व्यक्त नहीं कर पाया हूँ। कब्र में जाते समय मैं यह तो कह सकता हूँ कि मैंने अपना आज का काम पूरा कर लिया किन्तु यह नहीं कि मेरा जीवन पूरा हो गया। अगले दिन प्रातः मैं फिर से अपने काम पर लग जाऊँगा। कब्र अन्धी गली नहीं है, आम रास्ता है जो शाम के झुटपुटे में बन्द हो जाता है और अगले दिन प्रातः फिर चालू हो जाता है।"[1] ऐसी ही

१. You say the soul is nothing but the resultant of bodily powers. Why then, is my soul more luminous when my bodily powers begin to fail. Winter is on my head, but the eternal spring is in my heart. For half a century I have been writing my thoughts in prose and in verse, history, philosophy, song, drama etc. But I feel I have not said the thousandth part of what is in me. When I go down to the grave. I can say "I have finished my day's work." But I cannot say "I have finished my life." My day's work will begin again the next morning. The tomb is not a blind alley; it is a thoroughfare. It closes on the twilight and opens on the dawn.

—Great Thoughts, Jan. 1933.

बात जेम्स मार्टिन्यू (James Martineu) ने अपने ८०वें जन्म दिवस के अवसर पर कही थी—"मैं अपनी योजनाओं का कितना थोड़ा भाग कार्यान्वित कर सका हूँ। कोई बात इतनी स्पष्ट नहीं जितनी यह कि लम्बे से लम्बा वर्त्तमान जीवन भी अंशमात्र है।"[१] मार्टिन्यू ने एक और महत्त्वपूर्ण बात कही; और वह यह कि "हम आत्मा की अमरता में इसलिए विश्वास नहीं करते क्योंकि हम उसे सिद्ध कर चुके हैं। हम तो उसे सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि हम उसमें विश्वास करते हैं।"[२] हम आत्मा की अमरता में इसलिए भी विश्वास करते हैं क्योंकि विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा का अमर न होना आज तक सिद्ध नहीं हुआ। इस सन्दर्भ में जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि "यदि पुनर्जन्म की आशा से किसी को सन्तोष मिलता है अथवा इससे उसे कुछ लाभ पहुँचता है तो उसके ऐसा करने में कोई बाधा नहीं है।"[३]

दुर्जनतोषन्याय से यदि हम विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो वह भी पुनर्जन्म की सिद्धि में सहायक है। जब हम वनस्पति और पशु-पक्षियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी होनेवाले परिवर्त्तन और विकास को देखते हैं तो हमें निश्चय हो जाता है कि जीवन समाप्त नहीं होता। उसमें नैरन्तर्य बना रहता है। परिवर्त्तन का अर्थ ही यह है कि जो वस्तु जिस अवस्था में हो उससे दूसरी अवस्था में हो जाये। विकसित या परिवर्त्तित वस्तु बिल्कुल नई नहीं होती, उसमें पुराना अस्तित्व बना रहता है। यह बात न हो तो परिवर्त्तन या विकास का कुछ अर्थ ही नहीं रहता। यदि हर शरीर में नई आत्मा हो जो शरीर के साथ उत्पन्न होती हो और उसी के साथ नष्ट हो

१. How small a part of my plans have I been able to carry out. Nothing is so plain as that life at its fullest on earth is but a fragment.

२. We do not believe immortality because we have proved it; but we try to prove it because we believe it.

३. To anyone who feels it conducive either to his satisfaction or usefulness to hope for a future life, there is no hindrance to his indulging in that hope.

जाती हो तो विकास किसका ? विकसित होनेवाली वस्तु के मूलरूप का विकास से पहले और पीछे किसी-न-किसी रूप में विद्यमान होना अनिवार्य है। चार्ल्स डार्विन के मतानुसार यह कैसे सम्भव है कि विकास की धीरे-धीरे होनेवाली दीर्घकालीन प्रक्रिया के बाद मनुष्य तथा अन्य चेतन प्राणी पूरी तरह लुप्त हो जाएँ।[1]

सृष्टि में जितना भी सौन्दर्य और चमत्कार है वह सब मनुष्य के लिए है। वस्तुतः यह सब मनुष्य की ही कल्पना है जो 'पत्थरों में प्रवचन, बहते हुए नालों में पुस्तकें और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई'[2] के दर्शन कर लेता है। यह कैसे हो सकता है कि सृष्टि में सौन्दर्य तो बना रहे किन्तु उस सौन्दर्य की कल्पना करनेवाली सत्ता न रहे। यह तर्कसंगत नहीं है। जिसने सृष्टि की रचना की है, निश्चय ही, वह सृष्टि से कहीं अधिक महान् होगा। इसी प्रकार जो आत्मा सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की कल्पना करती है वह उतनी ही नित्य एवं अविनाशी होनी चाहिए जितनी उसकी कल्पना।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर ओलिवर लाज के मतानुसार "जो है वह था भी और रहेगा भी अर्थात् जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता। इसलिए स्थिरता ही सत् की कसौटी है। यदि भौतिक जगत् में सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त बौद्धिक तथा आध्यात्मिक ऊर्जा के क्षेत्र में क्यों नहीं लागू होगा क्योंकि सृष्टि एक है। विज्ञान ने जो कुछ ऊर्जा स्थिरता के विषय में खोज निकाला है, वह धर्म द्वारा आत्मा की अमरता विषयक खोज का भौतिक पर्याय है।"[3]

---

१. It is an intolerable thought that man and all other sentient beings are doomed to complete annihilation after such long continued process.

२. Sermons in stones, books in running brooks and good in everything.

३. Whatever is both was and will be. Persistence or conservation is the test or criterion of real existence. If it is impossible to think of physical energy as appearing and disappearing or coming into and going out of existence,

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी-दार्शनिक, सन्त, कवि, वैज्ञानिक इसे स्वीकार किये विना नहीं रह सकता। इमर्सन के अनुसार परिपक्व बुद्धिवाले मनुष्य को पुनर्जन्म का सिद्धान्त वरबस स्वीकार करना पड़ता है।"[1] बीसवीं सदी में 'ईश्वर मर गया' का नारा देनेवाले निरीश्वरवादी जर्मन दार्शनिक नित्शे को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ा। उसने लिखा—"कर्मशक्ति के जो रूपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है। इसलिए कहना पड़ता है कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी-न-कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्मचक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है। यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है।"[2] बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नहीं मानते तथापि वैदिक धर्म में स्वीकृत पुनर्जन्म के सिद्धान्त को उन्होंने पूरी तरह अपनाया है। इसलाम और ईसाई मत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते तथापि उनके मान्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र पुनर्जन्म के पोषक वचन उपलब्ध हैं। यूरोप आदि देशों के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे अपनाये विना न रह सके।

दार्शनिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊँचा है। विश्व के वड़े-वड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक वहाँ हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अपनाया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है।' उसके सिद्धान्तानुसार आत्मा

---

why is it not equally impossible to think of intellectual or spiritual energy. For, the universe is one. What science has discovered about the conservation of energy is only the physical equivalent of what religion has discrovered about the immortality of the soul.

१. Here is this wonderful thought. Wherever man ripens, this audacious belief presently appears. As soon as thought is exercised, this belief is inevitable.

२. Complete Works of Nitetche. Vol. XVI. P. 235-245.

द्रव्य होने से अविनाशी है।[१] आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है, वस्तुतः वह पूर्वजन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है—ज्ञान केवल स्मरणमात्र है।[२] आत्मा में वार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है और वह अपना चोला सदा वदलती रहती है।[3]

प्लेटो के सुयोग्य, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी शिष्य अरस्तू (Aristotle) की मान्यता है कि आत्मा नित्य है और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुजरकर उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है। यूनान के ही प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक पिथागोरस ने लिखा है कि अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशुयोनि में जन्म लेता है।[४] एम्पीडोक्लीज ने पुनर्जन्म का आधार गीता के 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को माना है। पुनर्जन्म में विश्वास के कारण ही वह मांस भोजन से भी घृणा करता था।[५]

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है कि दर्शन-शास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि जो अनन्त (अवि-

---

१. Soul is a substance and, therefore, indestructible.
—Republic.

२. All knowledge is rememberance.

३. The soul has a natural strenght which will hold out and be born many times. The soul always weaves her garment anew.

४. All things are but altered. Nothing dies and here and there the unbodied soul flies, by time or force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast.

५. There sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of soul a dislike for flesh as food.
—Calcutta Review Vol. VXII, P. 97.

नाशी) है वह अनादि (अनुत्पन्न) है।[1] फ्रांस के लैसिंग ने तर्क दिया कि मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसा कि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाये। अन्यथा पाप कहाँ से आया ? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है। काण्ट ने अपने समस्त दर्शनशास्त्र की नींव आचार-शास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है—धर्म का सम्बन्ध सुख के साथ है और अधर्म का दुःख के साथ। किन्तु हम देखते हैं कि इस जगत् में दुर्जन पुरुष फलते-फूलते तथा सज्जन दुःख पाते हैं। यदि कोई न्यायकारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य में दुष्टों को दुःख का भोग और सज्जनों को सुख का भोग करायेगा। स्पीनोजा, हीगल आदि ने भी आत्मा के नित्यत्व और पुनर्जन्म को स्पष्ट स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक आइकन (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठाकर परमात्मा की ओर ले-जाये और यह भी बताये कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है, अपितु भविष्य के जन्मों तक फैला है। काण्ट के स्वर में स्वर मिलाकर आइकन ने भी कहा—"यदि वर्तमान जीवन में ऐसा नहीं होता तो अगले जन्म में होगा। इस सिद्धान्त की अधिक विशद व्याख्या ने कई भिन्न मान्यताओं को जन्म दिया है। ऐसी ही एक मान्यता पुनर्जन्म के सिद्धान्त की है।"[2] ईसाई लोग (और मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं किन्तु विनाश नहीं मानते। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में दर्शनशास्त्र के आचार्य प्रोफेसर मैकटेगर्ट ने अपनी पुस्तक 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' में इस विषय का विवेचन करते हुए

---

१. Melampsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable.

२. If this does not happen in the present life, then it must happen in a future life. The more detailed elaboration of this conception has struck different paths. One such path was the doctrine of transmigration of soul.

—Eucken's Essays, P. 109.

लिखा–"यदि आत्मा बनाया गया तो किसलिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गई? संसार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था। यदि संसार सौ वर्ष तक मेरे बिना चलता रहा तो और सौ वर्ष तक क्यों नहीं चल सकता था?"[१] यदि आत्मा को अनन्त मानते हों तो अनादि भी मानो और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही अनेक आत्माएँ हैं—कोई किसी से पैदा नहीं होती। तब, जिस कारण वर्त्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे।

यूरोप में संस्कृत के विद्वानों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त ईसाई मिश्नरी प्रो० मैक्समूलर ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्मशरीर के साथ एक नाड़ी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की मान्यता को स्वीकार किया है।

प्रकृति के महान् कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियों में अमरता का संकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) में पुनर्जन्म की व्याख्या इन शब्दों में की है—"जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल आते हैं उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर कहीं दूर दूसरा जन्म धारण कर लेता है।"[२] अपनी एक और कविता 'The Primrose of the rock' में पुष्पों तथा अन्य वनस्पतियों की परिवर्त्तनशील अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन में भी इसी प्रकार मुरझाने के बाद बहार

---

१. If the universe got on without me for a hundred years; what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more.
—Human immortality and pre-existence.

२. Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star—
Hath had its setting else where;
And cometh from afar.

आती है।[1]

टेनीसन कहता है कि 'हमें ठीक तरह भले ही याद न हो कि हम पहले कब, कहाँ मिले किन्तु यह निश्चय है कि हम एक-दूसरे से अनेक बार मिले हैं।[2]

अमरीका के महान् दार्शनिक, सन्त तथा साहित्यकार इमर्सन अपना अनुभव बताते हैं—"हम अपने आपको सीढ़ियों पर खड़ा देखते हैं। बहुत-सी सीढ़ियाँ हमसे नीचे हैं जिन्हें हम चढ़ चुके हैं और बहुत-सी हमसे ऊपर हैं जिनपर हमें अभी चढ़ना है।[3]

वर्त्तमान युग में इंगलैण्ड में ऋषिकल्प समझे जानेवाले एडवर्ड कारपेण्टर ने अपने ग्रन्थ 'The drama of love and hatred–a study of human evolution and transmigration' में लिखा है कि जो मनुष्य पृथिवी पर जन्म धारण करता है वह इस जंगत् के लिए कोई सर्वथा नवीन आत्मा नहीं होता।

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है—इस तथ्य की भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा—"जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है, किन्तु ज्यों हि अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है वह शान्त हो जाता

---

१. Sin-blighted though we are, we too,
The reasoning soul of man,
From our oblivious winter called,
Shall rise and breathe again.

२. And when we muse and brook,
And ebb into a former life,
We say, all this hath been before,
Although I know not in what time or place,
Methought I had often met with you.

३. We wake and find ourselves on a stair. There are stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight.

है।"[1] पुनर्जन्म विषयक अपनी अनुभूति की चर्चा करते हुए रवीन्द्र बाबू लिखते हैं—"जब प्रातःकाल के समय मैंने आँखें खोलीं तो मुझे ऐसा लगा कि मैं दुनिया के लिए नया नहीं हूँ। मेरी माता के रूप में उस अनामरूप अज्ञेय प्रभु ने मुझे अपनी बाहों में थाम रक्खा है।"[2]

असुर्य लोक—जो मनुष्य परमात्मा की सर्वव्यापकता को भूल कर, अनासक्त भाव से काम नहीं करता, त्यागपूर्वक भोग नहीं करता और शरीर को ही सब-कुछ मानकर आत्मा का तिरस्कार करता है, वह व्यसनों के प्रलोभन से नहीं बच पाता। भोग ही जिसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है—सदा अपने प्राणों में ही रमा रहता है। आत्मा की उपेक्षा करके सदा शरीर की ही चिन्ता में लगा रहता है—आत्महनन करनेवाला ऐसा व्यक्ति मरने के बाद ऐसी योनियों में जन्म लेता है जो उसके अभ्यास के अनुकूल होती हैं। असुरों के लिए हितकारी होने से वे योनियाँ 'असुर्या' कहाती हैं—'असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषकपराः' (दयानन्द, महीधर)। भोगों में लिप्त ऐसे मनुष्य भोगयोनि में ही जाते हैं। वहाँ पहुँचकर वे असुर बनकर अपने ही मुख में आहुति देते रहते हैं। वे जीने के लिए नहीं खाते, खाने के लिए जीते हैं। ऐसे लोग शरीर को ही सब-कुछ मानकर अहर्निश उसी की उपासना में लीन रहते हैं। इसीलिए वे असुर कहाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (८।७।८) में इस विषय में एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कथा का उल्लेख मिलता है। प्रजापति ने कहा कि जो आत्मा को जान लेता है वह सब कामनाओं को प्राप्त करके पूर्णकाम हो जाता है। देव और असुर सभी ने इस बात को सुना और आत्मविषयक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रतिनिधिरूप में देवों ने इन्द्र को और असुरों ने विरोचन को भेजा।

---

१. The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.

२. When in the morning I looked upon the light I felt in a moment that I was no stranger in the world and that the inscrutable without name and form had taken me in its arms in the form of my mother.

इन्द्र और विरोचन दोनों ने प्रजापति के पास जाकर अपनी जिज्ञासा प्रकट की। प्रजापति ने उन्हें पानी भरे कटोरों में देखने को कहा और पूछा —क्या देखते हो? उन्होंने उत्तर दिया—भगवन्! हम अपने-आपको सजाधजा सुन्दर वस्त्र पहने परिष्कृत देख रहे हैं। प्रजापति ने कहा—वस यही आत्मा है। इन्द्र तो विचारमग्न हो गया किन्तु विरोचन सन्तुष्ट होकर चला गया। असुरों के बीच जाकर उसने कहा—मैंने आत्मा को जान लिया है। यह शरीर ही आत्मा है, इसी की पूजा करनी चाहिए। इसी की पूजा से इहलोक और परलोक दोनों की प्राप्ति हो जाती है। असुरों ने आधिभौतिक देह को आत्मा समझ लिया और उसी के आधार पर भौतिक पूजा का सूत्रपात हुआ। उपनिषद् के इस प्रसंग में लिखा है कि इसी कारण असुर मृत देह को सुन्दर भोजन, वस्त्र और अलंकार आदि से परिष्कृत या संस्कृत करके सुरक्षित रखते हैं और इससे वे समझते हैं कि हम परलोक को विजय कर लेंगे। ऐसा करने से मृत्यु के अनन्तर भी उनको समस्त ऐहिक भोगों की प्राप्ति होती रहेगी। यही असुरोपनिषद् है।

उस आधार पर ऐसी आसुर उपासाना और प्रवृत्तियों के प्रतीक मिस्र के पिरामिड हैं। उनमें राजाओं के मृतदेह ममीज़ के रूप में आज भी सुरक्षित रक्खे हैं और उनके साथ समस्त भोग संभार—भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि जीवनकाल के समान सुरक्षित कर दिये गये हैं। ये पिरामिड उपनिषद् की आसुरी संस्कृति का प्रयोगात्मक रूप हैं।

परन्तु जैसे देह को सब-कुछ मानना निन्द्य है वैसे ही उसे सर्वथा हेय मानना भी अनुचित है। जैसे कुछ लोग शरीर में ही सब सुख ढूंढ़ना चाहते हैं, वैसे ही कुछ अन्य लोग शरीर को सब दुःखों का मूल मानकर उससे घृणा करने को कहते हैं। उनकी मान्यता है कि पंचमहाभूतों से बना यह शरीर अनित्य है। हड्डियों के ढांचे से बना यह शरीर नसों से जकड़ा हुआ है। मांस और रक्त से इसपर लेपन किया गया है और चर्म से इसे ढक दिया गया है। मल-मूत्र की दुर्गन्ध इसमें भरी है। बुढ़ापे और शोक से यह आक्रान्त है। रोगों का घर है। जैसे रजस्वला स्त्री रजोधर्म से अपवित्र होती है वैसे ही यह शरीर भी दूषित रजोगुणी पदार्थों से भरा हुआ है। ऐसे

शरीर को त्याग देना चाहिए।[1] परन्तु इसी तथाकथित दूषित शरीर में हमारी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा भी तो स्थित हैं जिनकी यह रक्षा करता है। इसी से धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धि होती है।[2] आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न का यही माध्यम है। खाद नितान्त अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त होता है, किन्तु पेड़-पौधों में प्रयुक्त होने पर वही गुलाब, चमेली, चम्पा, केवड़ा आदि में सुन्दर, सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करने में सहायक होता है। उसी के कारण पेड़ों पर फल लगते हैं। इसी प्रकार अपने-आप में अपवित्र रज और वीर्य से सुन्दर और सुन्दरतम शरीरों की रचना होती है और इन शरीरों के द्वारा ही कपिल और कणाद, गौताम और व्यास, पतंजलि और जैमिनि, राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, कबीर और नानक, पाणिनि और यास्क, वाल्मीकि और कालिदास, शंकर और दयानन्द जैसे युगपुरुष इतने महान् कार्य कर गये, अतः शरीर को निन्द्य या त्याज्य नहीं माना जा सकता। जब तक शरीर आत्मा का साधन है तब तक उसमें कोई दोष नहीं। उसें सुन्दर-स्वस्थ बनाकर उसका उचित उपयोग करना हमारा धर्म है। बुराई तब आती है जब हम शरीर को साधन न समझकर साध्य मान लेते और सर्वात्मना उसी की सेवा में जुटे रहते हैं। यहाँ तक कि उसकी चाह पूरी करने के लिए नैतिकता का परित्याग कर आत्महनन में संकोच नहीं करते।

दुर्लभ मानवदेह पाकर भी जो लोग विषयवासना में आसक्त होकर परब्रह्म से विमुख रहते हैं वे आत्मा को उसके चरम लक्ष्य की प्राप्ति से वंचित रखने के कारण विविध प्रकार की योनियों में जन्म लेते और घोर यातनाओं को भोगते हैं। ऐसे लोगों के विषय में गीताकार ने कहा है कि

---

१. अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनं,
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णमूत्रपुरीषयोः।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनरातुरं,
रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत्॥



२. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।—कालिदास
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।—चरकसंहिता १।१५

अनेक प्रकार से भ्रान्त चित्तवाले अज्ञानी जन मोहरूपी जाल में फँसे हुए तथा विषयभोग में आसक्त हुए घोर नरक में गिरते हैं—विशेष दुःख भोगते हैं। आसुरी योनियों को प्राप्त हुए ऐसे लोग जन्मजन्मान्तर में मुझे प्राप्त न करके निकृष्ट योति को प्राप्त करते हैं।[1]

असुरों के लिए हितकर ये लोक 'अन्धेन तमसावृताः'—घने अँधेरे से आच्छादित होते हैं।[2] इन लोकों में प्रकाश नहीं होता। संसार में पाँच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि ही ज्ञान के साधन हैं। जिन योनियों में ये साधन नहीं होते उन्हीं को यहाँ 'अन्धेन तमसावृताः'—घोर अन्धकार से आवृत लोकों के नाम से अभिहित किया है।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक होते हैं तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि का शरीर मिलता है।[3] वहाँ भी पापों की निकृष्टता की अपेक्षा से न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरों की व्यवस्था है। अतिशय पाप करने पर स्थावरों (वृक्षादि) का शरीर मिलता है।[4] कर्मानुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर मिलता है। यह अनेकत्र उपलब्ध प्रमाणों से सिद्ध है। मनुस्मृति में तो स्पष्ट लिखा है कि शरीर द्वारा किये गये पापकर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। अथर्ववेद में अनेकशः (१-३२-१, ८-७-६ आदि) तथा छान्दोग्य (६-११-३) में वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

---

१. अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥—गीता० १६।१६
आसुरी योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्य कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥—गीता० १६।२०
दूसरे श्लोक में 'मामप्राप्य' का अर्थ शंकर तथा धनपति ने 'मच्छिष्ट-साधुमार्गमप्राप्य' तथा मधुसूदन ने 'वेदमार्गमप्राप्य' किया है।

२. अन्धेन तमसावृताः लोकाः—अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादितास्तान् स्थावरान्। —शंकराचार्य

३. पुण्यतो दुरितबाहुल्ये पश्वादीनाम्।—अनादितत्त्व दर्शन ४।११

४. पापातिशये स्थावराणाम्।—अ०त०द० ४।१२

मनुष्येतर सभी योनियाँ आसुरी हैं। किसी में बुद्धि का विकास नहीं तो किन्हीं में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तक का अभाव है। अज्ञानान्धकार से ढकी होने के कारण ये सब भोगयोनियाँ हैं जिनमें आत्महनन जैसे दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए जीव को भटकना पड़ता है। पशु (पश्यतीति पशुः) देखते हैं, समझते नहीं। इसी कारण मेमना कसाई के हाथ में हरी-हरी घास देखकर उसे चाटने लगता है। वृक्षादि तो अन्तः-संज्ञ हैं। ये ही 'असुर्या' योनियाँ हैं। दिनरात केवल शरीर के पोषण में रत लोगों के लिए भोग-योनियाँ ही उपयुक्त हैं। इनमें विवेक ज्ञान का नितान्त अभाव होने से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए इनमें किये कर्मों का विपाक नहीं होता।

जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं देते। अपनी इच्छा से निकृष्ट योनियों में जाना जीव कभी नहीं चाहेगा। वहाँ उसे बलात् धकेलना होगा। असुनेता परमेश्वर ही यह काम करता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

ये के च—जो कोई भी, आत्महनो जनाः—आत्मघाती मनुष्य होते हैं, ते—वे, प्रेत्य—मरने के पश्चात्, तान्—उन लोकों—योनियों को, अभिगच्छन्ति—प्राप्त होते हैं, ते लोकाः—जो लोक—योनियाँ, असुर्याः—असुरों को प्रिय होती हैं, और अन्धेन तमसा—घोर अन्धकार से, आवृताः—आच्छादित होती हैं।

Fit for Asuras are those regions (corporeal bodies) enveloped in pitched darkness (ignorance) whereto go all those who are slayers of their soul.







ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धान्तों के मर्म
तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन
स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधु
करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन शैली का अपना वैशिष्ट्य है। वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र तथा प्राचीन इतिहास आदि विभिन्न विषयों पर संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में आपने लगभग दो दर्जन मौलिक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से अनेक केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हैं। पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने ५० वर्ष तक शिक्षा-क्षेत्र में कार्य किया है। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट ग्रेजुएट कालेजों के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के राष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। कुछ समय तक आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्यासभा (सेनेट) तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा व दिल्ली की अनेक धार्मिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से आपका निकट सम्बन्ध रहा है।

